विचार-वीथिका

(हिन्दी कवियों की काव्य-साधना, सेनापति और उनका काव्य, अनुभूति और अध्ययन, रसखान का अमर काव्य, आदि पुस्तकों के रचयिता)

श्री दुर्गाशंकर मिश्र

बी. ए. साहित्यरत्न

प्रकाशक

नवयुग ग्रंथागार

छितवापुर रोड, लखनऊ.

अध्यक्ष
रामेश्वर तिवारी
नवयुग ग्रंथागार,
छितवापुर रोड, लखनऊ.

प्रथम संस्करण : सन् १९५४ ई०
मूल्य सवा तीन रुपया

मुद्रक
नवभारत प्रेस
नादान महल रोड, लखनऊ

प्रस्तावना

श्री दुर्गाशङ्कर मिश्र ने अपनी विचार वीथिका नाम की पुस्तक प्रकाशन से पूर्व मेरे अवलोकनार्थ भिजवाने की कृपा की। इस संग्रह के प्रायः सभी निबन्ध साहित्यिक हैं और लेखक के व्यापक अध्ययन, विचार और मन्थन के परिचायक हैं। लेखक ने विद्यापति, कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि प्राचीन साहित्य निर्माताओं और प्रसाद और रत्नाकर जैसे आधुनिक साहित्य सृष्टाओं की प्रतिभा का एक विश्लेषणात्मक ढंग से रसास्वाद कराया है।

विद्यापति के कवित्व और पांडित्य शीर्षक निबन्ध में लेखक ने प्रसङ्गवश कृष्ण और राधा की उपासना की प्राचीनता बड़े मार्मिक ढंग से प्रतिपादित की है और विद्यापति की रचनाओं में पाये हुए अलङ्कारों का निरूपण कर उनकी कला का भी विश्लेषण किया गया है। इसी प्रकार जायसी, सूर और तुलसी की कला का प्राचीन साहित्य शास्त्र के आधार पर विवेचन किया है।

यद्यपि लेखक महोदय नवीन मान दण्डों से परिचित हैं तथापि उन्होंने अपनी आलोचना का आधार अधिकांश में प्राचीन साहित्य शास्त्र ही लिया है। महाकवि पद्माकर की भाव व्यंजना में लेखक ने उनकी विहारी, मतिराम आदि अन्य रीतिकालीन कवियों से तुलना की है। उनकी तुलना से पद्माकर के काव्य के स्रोतों का भली भांति

पता चल जाता है। लेखक की आलोचना कोरी प्रशंसात्मक ही नहीं है वरन् उसमें दोष दर्शन भी किया गया है। पद्माकर की पुनरावृत्तियों से लेखक कुछ ऊबा हुआ है। केशवदास जी ने कहा है कि पुनरावृत्ति केवल राम नाम की दोषपूर्ण नहीं है और सब पुनरावृत्तियां दोष पूर्ण हैं और वे कवि के विचार क्षेत्र और शब्द भंडार की सीमाओं की द्योतक होती हैं। पद्माकर गंगाजी सम्बन्धी पुनरुक्तियां उनकी भक्ति भावना के आधिक्य की परिचायक हो सकती हैं। चाहे उनमें कवित्व का आधिक्य न हो।

पुस्तक में विद्यार्थियों के लिए बहुत सी ज्ञातव्य सामग्री है और मैं आशा करता हूँ कि विद्यार्थी समाज में इस पुस्तक का उचित आदर होगा।

गोमती निवास
दिल्ली दरवाजा
आगरा
१-११-५४

श्री गुलाबराय जी

दो शब्द

श्री पं० दुर्गाशङ्कर मिश्र एक उत्साही विद्वान् युवक हैं। उनकी प्रवृत्ति साहित्यिक है और उनका अध्ययन विस्तृत। उसी के फलस्वरूप उनकी यह विचार-वीथिका पुस्तक प्रकाशित हो रही है। पुस्तक में उनके समीक्षात्मक लेखों का सुंदर संग्रह है। यह संग्रह सब लोगों के अध्ययन के योग्य है। विशेष कर विद्यार्थियों को इससे बड़ा लाभ होगा। आशा है, इसका यथेष्ट आदर और प्रचार होगा। लेखक से भी यही आशा है कि वह हिन्दी-साहित्य को अधिक उपयोगी पुस्तकें लिखकर समृद्ध करेंगे।

रानीकटरा, लखनऊ
१ नवम्बर, १९५४

रूपनारायण पाण्डेय

प्रकाशकीय

हमें श्री दुर्गाशंकर मिश्र के साहित्य-समीक्षात्मक विचारों को "विचार-वीथिका" के रूप में प्रस्तुत करते हुए अत्यंत हर्ष हो रहा है। मिश्र जी हिंदी साहित्य-संसार के लिए सर्वथा नवीन लेखक नहीं हैं अपितु उनके आलोचनात्मक निबन्ध विगत सात वर्षों से पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। लगभग अढ़ाई वर्ष पूव उनकी प्रसिद्ध कृति 'हिंदी कवियों की काव्य-साधना' भी प्रकाशित हो चुकी है जिसकी प्रस्तावना डा० भगीरथ मिश्र, रीडर हिंदी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय ने लिखी है तथा डा० धीरेन्द्र वर्मा, श्री विनयमोहन-शर्मा, डा० बल्देवप्रसाद मिश्र, श्री परशुराम चतुर्वेदी, डा० हेमचंद्र-जोशी, श्री रूपनारायण पांडेय, श्री मन्मथनाथ गुप्त प्रभृति विद्वानों ने और विशालभारत, सरस्वती, नई धारा, साहित्यसंदेश, हिन्दुस्तान आदि पत्र पत्रिकाओं ने भूरि भूरि प्रशंसा की है। आशा है मिश्र जी की प्रस्तुत पुस्तक का भी हिन्दी संसार समुचित आदर करेगा। पुस्तक में यत्र तत्र-प्रूफ की अशुद्धियाँ रह गई हैं, जिसके लिए हमें अत्यन्त खेद है। जिसका हम पुस्तक के अन्त में शुद्धि पत्र दे रहे हैं—

प्रकाशक—

निवेदन

प्रस्तुत पुस्तक समय समय पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित मेरे समीक्षात्मक निबन्धों का संग्रह है। इसके अधिकांश निबन्ध आज से लगभग सात वर्ष पूर्व 'माधुरी' (लखनऊ) और 'विशाल भारत' (कलकत्ता) में प्रकाशित हो चुके हैं तथा कुछ थोड़े से निबंध इधर हाल ही में 'राष्ट्रभारती', 'विक्रम', 'सरस्वती-संवाद', 'प्रतिभा' और 'परमार्थ' (चरित्र निर्माण विशेषांक) में प्रकाशित हुए हैं। यद्यपि लेखन काल की दृष्टि से इसके अधिकांश निबन्ध कई वर्ष पूर्व लिखे गए हैं परन्तु उनमें व्यक्त विचारों में परिवर्तन करने की आवश्यकता मुझे आज भी प्रतीत नहीं होती। वे जिस रूप में प्रकाशित हुए थे उसी रूप में प्रस्तुत पुस्तक में संग्रहित कर दिए गए हैं तथा लेखक सुप्रसिद्ध समालोचक श्री गुलाबराय जी के इन शब्दों से "विचार डाकखाने के टिकट नहीं हैं जिनका दुबारा व्यवहार न हो सके" पूर्ण रूप से सहमत है। आवश्यकतानुसार कहीं-कहीं साहित्यिक सिद्धान्तों और आधुनिक हिंदी कविता की नवीन प्रवृत्तियों—वादों—की भी चर्चा की गई है परन्तु व्यक्ति विशेष को केन्द्र बनाना मेरा कहीं भी लक्ष्य नहीं रहा। इसी प्रकार प्रस्तुत पुस्तक 'इतिवृत्त संग्रह' और 'इतिहास' नहीं है इसीलिए विभिन्न साहित्यांगों के विकास पर विहंगम दृष्टि डालते समय कुछ प्रतिभाशाली कलाकारों के नाम छूट गए हैं। लेखक उनके बल्कि उनसे भी अधिक उनकी कृतियों के प्रति क्षमा प्रार्थी है।

आदरणीय श्री गुलाबराय जी एम० ए० के प्रति लेखक हृदय से आभारी है जिन्होंने समयाभाव होते हुए भी 'विचार-वीथिका', की प्रस्तावना लिखने का कष्ट किया है। इसी प्रकार मैं श्री ब्रह्मनारायण शर्मा 'विकल' अ० भारतीय विद्यापीठ, लखनऊ को जिन्होंने कि प्रस्तुत पुस्तक का प्रूफ संशोधन कार्य किया है तथा श्री विजयशंकर त्रिवेदी, साहित्यरत्न को जिन्होंने कि समय समय पर उपयुक्त सुझाव दिये हैं, हृदय से धन्यवाद देता हूँ। साथ ही श्री रामेश्वर जी तिवारी के प्रति भी कृतज्ञताज्ञापन अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि यदि वे लेखक को आत्मीय भाव से पुनः पुनः प्रेरित न करते तो कदाचित ही इस कृति को प्रकाश में आने का सुअवसर प्राप्त हो पाता।

शरद् पूर्णिमा,
सं० २०११ } — दुर्गाशंकर मिश्र

—::o::—

आधुनिक हिंदी साहित्य-समीक्षा के प्रवर्तक

आचार्य

पं० रामचन्द्र जी शुक्ल

की

पुण्य-स्मृति

में

—दुर्गाशंकर मिश्र

विषय सूची

१. गीति-काव्य और उसकी परम्परा

आधुनिक पाश्चात्य आलोचकों ने काव्य को प्रधानतः विषयिप्रधान (Subjective) और विषयगत (objective) नामक दो मूल विभागों में विभाजित किया है। इसी प्रकार श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी काव्य के भेदों पर अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है—"साधारणतः काव्य के दो भेद किये जाते हैं। प्रथम तो वह जिसमें केवल कवि की ही बात होती है और द्वितीय वह जिसमें कि किसी बड़े सम्प्रदाय या समाज का वर्णन रहता है।" डा० श्यामसुन्दरदास ने तो 'साहित्यालोचन' नामक अपने प्रसिद्ध ग्रंथ में पाश्चात्य समीक्षकों के मत का समर्थन करते हुए लिखा है—"कविता को हम दो मुख्य भागों में विभक्त कर सकते हैं—एक तो वह जिसमें कवि अपनी अंतरात्मा में प्रवेश करके अपने अनुभवों और भावनाओं से प्रेरित होता है तथा अपने प्रतिपाद्य विषय को ढूँढ़ निकालता है; और दूसरा वह जिसमें कवि अपनी अंतरात्मा से बाहर जाकर सांसारिक कृत्यों और रागों में पैठता है और जो कुछ ढूँढ़ निकालता है उसका वर्णन करता है। पहले विभाग को भावात्मक, व्यक्तित्व प्रधान अथवा आत्माभि-व्यंजक कविता कह सकते हैं।"[1] जैसा कि डा० सूर्यकांत शास्त्री का कथन है—"विषयप्रधान कविता की सबसे

---

१. दे०—साहित्यालोचन—डा० श्यामसुंदर दास पृष्ठ ११२

बड़ी विशेषता यह होती है कि उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध बाह्यजगत के साथ होता है और उस जगत का वर्णन करने के कारण यह वर्णनात्मक होती है।"[१] विषयप्रधान कविता के जिसका कि स्रोत मनुष्य की कर्मशीलता को मानते हैं महाकाव्य और खंड-काव्य नामक कुछ भेद-उपभेद किए जाते हैं तथा उनमें समस्त देश अथवा जाति का प्रतिबिंब अंकित किया जाता है। विषयि-प्रधान अथवा भावप्रधान कविता में व्यक्तिगत अनुभूतियों, भावनाओं और आदर्शों की ही प्रधानता रहती है तथा उसका स्रोत गायक के उत्कट मनोवेगों को माना जाता है। डा० सूर्य-कांत शास्त्री के शब्दों में—"जीवन के ये मनोवेग जब घनीभूत हो शब्द-आदर्श में परिणत होते हैं तब गीतिकाव्य का जन्म होता है। गीतिकाव्य इन अव्यक्त मनोवेगों को व्यक्ति प्रदान करता है, वह रसाप्लावित हुए कवि के आत्मा को कंठ दे देता है। यही उसकी वृत्ति है, इसी में उसका कलापन है और यही उसकी उपयोगिता है।" [२] अर्नेस्ट राइस के अनुसार वास्तविक गीत वही है जो भाव या भावात्मक विचारों का भाषा में स्वाभा-विक विस्फोट हो तथा श्रीमती महादेवी वर्मा के शब्दों में—"सुख दुःख की भावावेशमयी अवस्था का विशेष गिने चुने शब्दों में स्वरसाधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।" [३] गीतिकाव्य में जिसे कि प्रगीतकाव्य भी कहा जाता है आभ्यन्त-रिक भावनाओं की प्रधानता के साथ-साथ रागात्मकता भी रहती है। वैयक्तिक अनुभूतियों की प्रधानता होने से गीतिकाव्य का सृजन तभी संभव होता है जब भावावेश से प्रेरित होकर निजी उद्‌गारों को

---

१. दे०—साहित्यमीमांसा—डा० सूर्यकांत शास्त्री पृष्ठ १२४

२. दे०—साहित्यमीमांसा—डा० सूर्यकांत शास्त्री पृष्ठ १३७

३. दे०—महादेवी का विवेचनात्मक गद्य— पृष्ठ १४१

काव्यो-चित भाषा में व्यक्त किया जाय। चाहे फिर ये भाव कवि के निजी जीवन से सम्बंधित हों अथवा उसके द्वारा निर्मित किसी पात्र के। रागात्मकता के कारण संगीत को गीतिकाव्य का एक प्रधान तत्व माना जाता है किन्तु यह संगीत आभ्यंतरिक ही अधिक होता है बाह्य रूप से तो उसे गौण स्थान ही प्राप्त होता है। रागात्मकता में प्रबलता स्थिर रखने के हेतु गीत के आकार में संक्षिप्तता तथा भावान्वित और एकता भी आवश्यक है। शैली की दृष्टि से उसमें सरलता और सुकुमारता भी परमावश्यक है। काव्य के अन्य भेदों की अपेक्षा गीतिकाव्य को बहुत अधिक स्वतःप्रेरित (spontaneous) और कलापूर्ण होने पर भी भावप्रधान अथवा विषयिगत काव्य की अपेक्षा विषयप्रधान काव्य को ही प्रधानता दी जाती है और जैसा कि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर का मत है—"विषयप्रधान श्रेणी के कवि ही महाकवि कहे जाते हैं तथा उनकी कृतियाँ सर्वदा के लिए समादरणीय हो जाती हैं;" किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रबन्धकाव्य की तुलना में गीतिकाव्य अथवा प्रगीतकाव्य का कुछ भी महत्व नहीं है तथा गीतिकारों को श्रेष्ठ कवि नहीं माना जा सकता। श्री नंददुलारे वाजपेयी के शब्दों में—"प्रबन्ध काव्य में दृश्यचित्रण और वस्तुचित्रण के साथ बहुत सा इतिवृत्त भी लगा रहता है, परन्तु प्रगीत रचना में कविता इन समस्त उपचारों से विरत होकर केवल कविता या भावप्रतिमा बनकर आती है। संगीत के स्वरों की भाँति प्रगीत के शब्द ही अपनी भावना ईकाइयों से कविता का निर्माण करते हैं; उनमें शब्द और अर्थ, लय और छंद अथवा रूप और निरूप्य की अभिन्निता हो जाती है। प्रबन्ध-काव्य कविता का आवृत्त और आच्छादित रूप है। प्रगीत काव्य उसका निर्व्याज निखरा हुआ स्वरूप है। प्रबंध काव्य यदि कोई रसीला फल है, जिसका आस्वादन छिलके, रेशे और बिए आदि निकालने पर ही

किया जा सकता है, तो प्रगीत रचना उसी फल का द्रवरस है जिसे हम तत्काल घूंट-घूंट पी सकते हैं।"[१] गीतों की उपयोगिता को स्वीकार करते हुए आधुनिक कवियों ने प्रबन्धकाव्यों में भी गीतों का समावेश किया है और नाटकीय गीतों की परम्परा भी भारतेन्दु द्वारा अंकुरित होकर प्रसाद द्वारा विकसित हुई है।

भारतीय गीतिकाव्य उतना ही प्राचीन है जितना कि वेद क्योंकि वैदिक मंत्रों में ही प्रथम बार भावमय रागात्मकता का समावेश हुआ है। विश्व का सबसे प्राचीनतम काव्य ग्रंथ ऋग्वेद ही माना जाता है और डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में— "ऋग्वेद की कविता पर्वत की ऊँची चोटियों और नीची तलहटियों में विचरती हुई कभी ऊँचे सृष्टिविज्ञान से हमारा परिचय कराती है, कभी लोक जीवन के जाने पहिचाने चित्रों को सामने लेकर खड़ा करती है।"[२] ऋग्वेद में उषा विषयक ऋचाएँ विशेषकर गीतात्मक ही हैं और सुन्दर सुकुमार शब्दावली के साथ-साथ उनमें भावों की सुघरता भी दर्शनीय है। इसी प्रकार सामवेद में भी कई सुन्दर-सुन्दर गीत हैं तथा उसे तो आर्य जाति का आदिगान ही कहा जाता है। वैदिक साहित्य में गीतिकाव्य को कोई विभिन्नता नहीं दी गई थी क्योंकि काव्य का गेय होना आवश्यक माना जाता था और इसीलिए हमारे प्रचीन काव्य प्रायः गेय ही है। वैदिक कविता में प्रकृति-सौंदर्य के विविध चित्रों की बहुलता देख पड़ती है तथा उसमें सामूहिक हर्ष और विषाद की अभिव्यंजना भी की गई है। उत्सवों और यज्ञो में सर्वत्र ही वैदिक मंत्रों का गान प्रचलित था। वैदिक काल के पश्चात् बौद्ध-साहित्य की 'थेरी गाथाओं' में गीतिकाव्य का समुज्वल रूप

---

१. दे०—आधुनिक साहित्य श्री नंददुलारे बाजपेयी भूमिका पृष्ठ २४

२. आजकल (मई १९५३) पृष्ठ १४

दृष्टिगोचर होता है। वैदिक युग में व्यक्तिगत भावनाओं को उतनी अधिक प्रधानता न मिल सकी थी तथा सामूहिक शक्ति और सामाजिक भावनाओं को ही विशेषता दी जाती थी। परन्तु बौद्धकाल में व्यक्तिगत चेतना का विकास होने से साहित्य में भी वैयक्तिक हर्ष-विषाद और आशा-निराशा को प्रधानता मिलने लगी। 'थेरी गाथाओं' में जीवन की नश्वरता और क्षणभंगुरता को चित्रित करते हुए वीतरागी भिक्षु-भिक्षुणियों के वैराग्य के प्रति हार्दिक अनुराग और उत्साह को अंकित किया गया है। इनमें प्रकृति-सौंदर्य का भी चित्रण किया गया है तथा करुण-रस की अभिव्यक्ति विशेष रूप से की गई है। जैसा कि श्री गुलाबराय का मत है—"वास्तव में गाथा शब्द का भी अर्थ गीत है। वैदिक साहित्य में ऋक् और गाथा में अंतर किया गया है, वह यह कि ऋक् में ईश्वर का स्तवन होता है और गाथा में मनुष्यों, राजाओं आदि का।"[1] सामवेद में जहाँ उदात्त, अनुदात्त और स्वरित नामक तीन स्वरों में ही गीत गाए जाते थे वहाँ अब शनैः शनैः संगीत में ताल, छंद और वाद्य का भी समावेश होने लगा। 'वाल्मीकि रामायण' में इसीलिए गेय और पाठ्य दोनों प्रकार के अंश देख पड़ते हैं, कहा जाता है कि वेदों की ऋचाओं के उपरान्त वाल्मीकि द्वारा ही सर्वप्रथम छंदों की रचना की गई और 'वाल्मीकि रामायण' के सृजन के उपरान्त ही संगीत में कई नवीन लक्षण निर्धारित किए गए तथा रागरागिनियों को भी उत्पन्न किया गया। गीतिकाव्य का चरम विकास महाभारत-काल में भी देख पड़ता है और 'नाट्यशास्त्र' में तो गीतों को भी नाटक का एक प्रमुख तत्व मान लेने से नाटकीय गीतों की परम्परा भी प्रारम्भ हो गई। यद्यपि कालिदास की शंकुतला, मेघदूत और ऋतुसंहार तथा भवभूति के उत्तररामचरित में अनेक

---

१. दे० काव्य के रूप—श्री गुलाबराय एम. ए. पृष्ठ १२७

सुन्दर-सुन्दर गीत दृष्टिगोचर होते हैं जो कि गीतिकाव्य में श्रेष्ठतम स्थान पाने योग्य हैं परन्तु वास्तव में जयदेव को ही स्वतंत्र गीतिकाव्य का जन्मदाता माना जाता है। यों तो वैदिक काल से लेकर विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी तक मुक्तक पदों की रचना होती रही थी और कई सुन्दर-सुन्दर गीत लिखे जा चुके थे किन्तु जयदेव के, गीतिगोविन्द' में ही प्रथम बार गीतिकाव्य का स्वतंत्र रूप दृष्टिगोचर होता है। संगीत की उत्कृष्ट मर्यादा अक्षुण्ण रखते हुए रागरागिनियों से पूर्ण सुललित, सुमधुर भाषा और सुकुमार भावाभि-व्यक्ति के साथ राधाकृष्ण के सौंदर्य और प्रेम तथा संयोग और वियोग का वर्णन 'गीतिगोविन्द में किया गया है। यद्यपि जयदेव ने शृंगार की अनवरत रसधारा ही प्रवाहित की है तथा कहीं कहीं विलासपूर्ण चित्रों की उद्भावना भी की है परन्तु तो भी उनके गीतों का सा पद—लालित्य, सौंदर्यानुभूति और रसोत्कर्ष अन्यत्र कहीं नहीं देख पड़ता। श्री हंसराज अग्रवाल के शब्दों में—' इन गीतों में असाधारण अकृत्रिमता और अनुपम माधुर्य है। सौंदर्य में, संगीतमय वचनोपन्यास में और रचना के सौष्ठव में इसकी शैली की उपमा नहीं मिलती है। कभी लघुपदों की वेगवती धारा द्वारा और कभी चातुर्य के साथ रचित दीर्घसमासों की लयपूर्ण गति द्वारा अपने पाठक या श्रोता पर यथेच्छा से प्रभाव डालने की इसमें अद्भुत योग्यता है।''[1] इस प्रकार जयदेव का संस्कृत साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है तथा उनका महत्व पाश्चात्य विद्वानों ने भी स्वीकार किया है और हिन्दी गीतिकाव्य तो उनके 'गीतिगोविन्द' से विशेष रूप में प्रभावित हुआ है।

---

१. दे० संस्कृत साहित्य का इतिहास—श्री हंसराज अग्रवाल पृष्ठ १७१—१७२

जैसा कि डा. रामकुमार वर्मा का मत है—"हिन्दी कविता का आदि रूप नालन्दा और विक्रमशिला के सिद्धों द्वारा बौद्ध धर्म के वज्रयान तत्व के प्रचार की भाषा में मिलता है।"[१] श्री राहुल सांकृत्यायन ने सिद्धों में सबसे प्राचीन सिद्ध सरह जिन्हें कि सरोजवज्र भी कहा जाता है को ही हिन्दी का आदिकवि माना है और उनका समय डा. विनयतोष भट्टाचार्य ने वि. सं. ६९० निश्चित किया है। सिद्धों की संख्या चौरासी मानी जाती है और गोरखनाथ की भी गणना उन्हीं में की जाती है यद्यपि इन्होंने उनसे अलग होकर नाथपंथ की स्थापना की थी और हठयोग की साधना को ओर जनता को प्रेरित किया था। सिद्धों ने अंतस्साधना पर जोर दिया और जातिपाँति, तीर्थाटन, मूर्तिपूजा, बहुदेवोपासना आदि के प्रति उपेक्षा प्रदर्शित कर रहस्यवादी बन शास्त्रों का तिस्कार करते हुए रूपकों के सहारे पहेलियाँ बुझाने का प्रयास किया। गीतिकाव्य की दृष्टि से भी सिद्धों की कृतियों का विशेष महत्व है क्योंकि उनमें रागरागिनियों के आधार पर अनेकानेक पदों की रचना की गई है। सिद्धों की कृतियों की भाषा विशेषतः देशभाषा मिश्रित अपभ्रंश ही है जिसे कि प्राचीन हिन्दी भी कहा जा सकता है। सिद्धों की भाँति हठयोगियों ने नाथपंथ को विकसित किया है जो कि विक्रम की चौदहवीं शताब्दी तक प्रचलित रहा। नाथपंथियों ने वज्रयानी सिद्धों की भाँति नाद और बिंदु के योग से विश्व की उत्पत्ति मानी है तथा ईश्वर की साधना के हेतु मानस को मुकुर माना है जिसमें कि आत्मा के स्वरूप का प्रतिबिंब दृष्टिगोचर होता है। नाथपंथ ने भी उपासना के बाह्याचारों का खंडन किया है तथा मुसलमान भी इस संप्रदाय

---

१. दे० हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा

की ओर स्वाभाविक ही आकर्षित हुए हैं। सिद्धों तथा नाथपंथियों की विचारधारा का प्रभाव हिन्दी के संत-कवियों पर विशेष रूप से पड़ा है।

हिन्दी साहित्य का अभ्युदय ही उस समय हुआ जब कि देश में केन्द्रीय-शक्ति का अभाव था। चारों ओर राजनैतिक तथा सामाजिक अशांति थी और राष्ट्रीय एकता एवम् संगठन की भावना की न्यूनता से पारस्परिक विद्वेष के बीज पल्लवित हो रहे थे तथा प्रतीची दिशा से मुसलमानों के आक्रमण भी हो रहे थे। ऐसी परिस्थिति में वीरगाथाओं का सृजन ही संभव था जिनका कि विषय विशेषतः युद्ध और प्रेम था। कवियों ने राजपूतों को संगठित होकर मुसलमानों के विरुद्ध युद्ध करने की प्रेरणा नहीं दी बल्कि अपने आश्रयदाताओं की प्रसंसा में ही अपनी कवित्व-शक्ति का अपव्य किया। वीरगाथाओं में वीर और शृंगाररस की ही प्रधानता रहती थी। इस प्रकार हिन्दी साहित्य का आदिकाल यद्यपि गीतिकाव्य के विकास के हेतु किसी भी भाँति उपयुक्त न था तथा प्रबंध-काव्य के साहित्यिक रूप में ही प्रायः वीरगाथाएँ लिखो गई हैं किन्तु साथ ही मुक्तक वीरगीतों के रूप में 'वीसलदेव रासो' और 'आल्हाखंड' की भी रचना हुई है। बीसलदेवरासो वस्तुतः एक वीरगीत ही है जिसकी कि रचना नरपति नाल्ह ने वि. सं. १२१२ में की। इसमें चार खंड हैं और लगभग दो सहस्र चरणों में यह समाप्त हुआ है। उसमें संयोग और वियोग शृंगार की ही प्रधानता है तथा वीररस का तो किंचित मात्र आभास देख पड़ता है। वीसलदेव रासो की भाषा विशेषतः राजस्थानी ही है और उसमें प्राकृत के कुछ शब्दों के साथ-साथ अरबी-फारसी के शब्दों की भी बहुलता है। यह तो स्वाभाविक ही है कि इसकी भाषा में शनैः शनैःपरिवर्तन भी अवश्य हुआ होगा। कलापक्ष की सुघरता

न होते हुए भी उनमें भावपक्ष की रम्यता अवश्य है। तथा गीतकाव्य की दृष्टि से भी उसका महत्व है क्योंकि कवि ने उसका सृजन गाने के उद्देश्य से ही किया था—

गायो है रास सुएौ सब कोई।
सांभल्यां रास गंगा फल होई।
कर जोड़े नरपति कहई।
रास रसापएा सुएौ सब कोई॥

आल्हाखंड के रचयिता जागनिक माने जाते हैं और उसका सृजन विशेषरूप से गाने के ही लिये किया गया था जिसका परिणाम यह हुआ कि जन समुदाय में ही उसका प्रचार होता रहा और आज कहीं भी उसकी मूल हस्तलिखित प्रति उपलब्ध नहीं होती। इस प्रकार उसकी कथावस्तु और भाषा में स्वाभाविक ही परिवर्तन तथा परिवर्धन हो गया है। संगीत के लयपूर्ण प्रवाह के साथ साथ उसमें ओजपूर्ण भावनाओं की तीव्रता देख पड़ती है और आज भी उत्तरप्रदेश तथा बुदेलखंड में महोबे के आसपास उसका विशेषरूप से प्रचार है। इन वीर गीतों के अतिरिक्त सिद्धों और नाथपंथियों के मुक्तक पद भी प्रशंसनीय है जिनका कि महत्व धार्मिक दृष्टिकोण से बहुत अधिक है क्योंकि उनमें सिद्धान्तों की चर्चा के साथ साथ तत्कालीन धार्मिक दशा का भी वर्णन है। वीरगाथाकाल के उतरार्ध में अमीर खुसरो ने भी पद, कव्वाली और गजलों की रचना की जिसमें कि व्यंग्य का पुट विशेष रूप से पाया जाता है तथा कहीं कहीं विरहोन्माद की झलक भी देख पड़ती है।

हिंदी साहित्य का भक्तिकाल गीतिकाव्य की समुन्नति के हेतु विशेषरूप से उपयुक्त था। जयदेव के 'गीतिगोविन्द' से प्रभावित होकर विद्यापति और चंडीदास ने भी राधाकृष्ण की प्रेम लीलाओं का वर्णन किया। हिन्दी साहित्य में कृष्णकाव्य

के जन्मदाता विद्यापति ही माने जाते हैं तथा उनकी पदावली में राधाकृष्ण के सौन्दर्य और प्रेम तथा संयोग और वियोग के हृदयग्राही चित्रों को अंकित किया गया है। इनकी कविता श्रृंगाररसप्रधान है और डा० रामकुमार वर्मा का यह कथन-- विद्यापति ने राधाकृष्ण का जो चित्र खींचा है उसमें वासना का रंग बहुत प्रखर है"[१] उचित भी जान पड़ता है। विद्यापति के हृदय में भक्ति-भावना अवश्य थी तथा उन्होंने कुछ भक्ति-विषयक पदों की रचना भी की है किन्तु श्रृंगाररसपूर्ण भावनाओं की प्रबलता ही उनके काव्य में देख पड़ती है। पदावली का भावपक्ष और कलापक्ष दोनों ही सुन्दर है तथा संयोग श्रृगार के सदृश्य वियोग श्रृगार के वर्णन में भी कवि सफल रहा है। पदावली की भाषा मैथिली है तथा उसमें पूर्वी हिंदी की क्रियाओं और कारकों के रूप जैसे के तैसे मिलते हैं।

संतकाव्य की परम्परा वस्तुतः कबीर से ही प्रारम्भ हुई है और हिंदी गीति काव्य की प्रारंभिक झलक भी उन्हीं के पदों में देख पड़ती है। वे ईश्वर के कट्टर भक्त थे और भगवद्विषयक प्रेम को ही भक्ति मानते थे। राम के प्रति अत्यधिक अनुराग उनके हृदय में था यद्यपि उनके राम 'निर्गुण राम' ही थे उन्होंने तीर्थयात्रा, बहुदेवोपासना आदि बाह्याचारों का खंडन भी किया है। आचार्य शुक्ल जी के शब्दों में—"इस प्रकार उन्होंने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावत्मक रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रगतिवाद का मेल करके अपना पंथ खड़ा किया।"[२] डा०

---

१. दे०—हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास-डा०-रामकुमार वर्मा

२. दे०—हिंदी साहित्य का इतिहास-पं० रामचन्द्र शुक्ल पृष्ठ ७७

हजारीप्रसाद द्विवेदी के इस कथन से सहमत होते हुए भी कि "भाषा पर कबीर का जबर्दस्त अधिकार था" यह तो स्वीकार करना ही होगा कि व्याकरण की दृष्टि से उनकी भाषा अशुद्ध ही मानी जावेगी चाहे फिर उसका दोष प्रतिलिपिकारों पर ही क्यों न मढ़ दिया जावे। कबीर के गीतिकाव्य का भावपक्ष अवश्य सुन्दर है और उनके पदों में आत्माभिव्यक्ति विशेष रूप की गई है तथा अनुभूति की तीव्रता एवं गंभीरता भी दर्शनीय है। राम को प्रियतम के रूप में तथा स्वयं को उनकी प्रियतमा के रूप में अंकित कर उन्होंने संयोग-वियोग और हर्ष-विषाद के हृदयस्पर्शी चित्र प्रस्तुत किए हैं। उनके शृंगार में भौतिकता नहीं हैं बल्कि आध्यात्मिक अनुभूतियों की प्रधानता है। सिद्धान्त-सम्बन्धी पदों में चाहे शुष्कता भी देख पड़ती हो और बहुत से पदों के दीर्घाकार होने से कहीं कहीं भाववेश की न्यूनता भी हो गई है तो भी हिन्दी गीतकाव्य में उनका उत्कृष्ट स्थान अवश्य है। कबीर के अतिरिक्त धर्मदास, नामक, मलूकदास, दादूदयाल, सुन्दरदास आदि ने भी संत-काव्य की परम्परा को अक्षुण्ण रखते हुए हिंदी गीतिकाव्य के विकास में अपना सहयोग प्रदान किया। कहीं तो उनके पदों में संसार की अनित्यता और जीवन की नश्वरता का वास्तविकतापूर्ण चित्रण है, तो कहीं रहस्यवाद और प्रेमतत्व की प्रधानता है तथा कहीं केवल शुष्क सिद्धान्तों और ज्ञानोपदेशों की ही चर्चा है। संत कवियों के पद विशेषरूप से वर्णन प्रधान ही है तथा उनमें रागात्मकता, भावात्मकता और कलात्मकता का उत्कृष्ट रूप बहुत ही कम देख पड़ता है।

भक्तिकाल की सगुणधारा की कृष्ण भक्तिशाखा के कवियों ने अवश्य प्रगीतत्व के विकास में पूर्ण सहयोग दिया है। यद्यपि कृष्णकाव्य का उद्भव जयदेव के 'गीतिगोविन्द' द्वारा माना जाता है किन्तु वास्तव में उसके पूर्व ही गाथासप्तशती,

सरस्वती-कंठाभरण आदि में राधा का उल्लेख हो चुका है तथा पाँचवीं और छठवीं शताब्दी की देवगिरि और पहाड़पुर की मूर्तियों को राधाकृष्ण की मूर्ति ही माना जाता है। पर चूंकि जयदेव, विद्यापति और चंडीदास ने राधाकृष्ण की प्रेमलीलाओं को विशेष रूप से प्रधानता दी है इसलिये कृष्णकाव्य की परम्परा के उद्भव का श्रेय उन्हें ही दिया जाता है। सूरदास कृष्णभक्तिशाखा के सर्वप्रधान कवि तो हैं ही तथा हिंदी गीतिकाव्य के भी समुज्ज्वल रत्न हैं। सूर की अक्षय कीर्ति उनके एक मात्र 'सूर-सागर' नामक ग्रंथ पर ही आधारित है। वस्तुतः 'सूरसागर' स्वयं ही कई ग्रंथों का संग्रहमात्र जान पड़ता है और यद्यपि किंवदंतियों के आधार पर उसके पदों की संख्या सवा लाख तक मानी जाती है परन्तु अभी तक केवल छः सहस्र पद ही प्राप्त हो सके हैं। डा० धीरेन्द्र वर्मा का मत है कि "सूरसागर श्रीमद्भागवत की काव्यमयी छाया है किन्तु अनुवाद नहीं" तथा सूर ने स्वयं ही स्वीकार किया है कि वे श्रीमद्भागवत के अनुरूप ही कथा कह रहे हैं परन्तु तो भी उसमें कई मौलिक प्रसंगों की उद्भावना भी की गई है। पं० चन्द्रबली पांडे सूरसागर को 'लीलाप्रबंधकाव्य', या 'भाव-प्रबंध-काव्य' मानते हैं परन्तु उसे मुक्तक काव्य मानना अधिक उचित है। सूरदास प्रथम कवि हैं जिन्होंने ब्रजभाषा को साहित्यिक रूप प्रदान किया है और उनकी भाषा सरल, सुबोध, सशक्त तथा भावानुगामिनी होते हुए भी उसमें तत्सम, तद्भव और ठेठ शब्दों के साथ-साथ विदेशी शब्दों का प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है। सूरसागर के पदों को विनय के पद, अवतार सम्बन्धी पद, बाललीला के पद, भावतीलीला के पद और विरह के पद नामक पाँच भागों में विभाजित किया जा सकता है। सूर की भक्ति विनय और सख्य कही जा सकती है तथा विनय सम्बन्धी पदों में वैष्णव सम्प्रदाय की दीनता, मानमर्षणता,

भयदर्शन, भर्त्सना, आश्वासन आदि विनय के सातों प्रकारों का वर्णन किया गया है। सूर को बाल वर्णन और शृंगारवर्णन में विशेष सफलता मिली है। श्रीकृष्ण के बालरूप का वर्णन करते समय कवि ने मुख, नेत्र, भुजा, रोमावली, केश आदि का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है और मातृ-हृदय को अव्यक्त भावनाओं को भी कुशलता के साथ मूर्तिमान स्वरूप प्रदान किया है। सूर के संयोग शृंगार वर्णन में विद्यापति की भाँति भौतिकता नहीं है और 'भ्रमर-गीत' में तो विरह-सागर उमड़ सा उठा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में—"सूरसागर का सब से मर्मस्पर्शी और वाग्वैदग्ध्यपूर्ण अंश भ्रमर-गीत है जिसमें गोपियों की वचन-वक्रता अत्यंत मनोहारिणी है।"[1] सूरसागर की संगीतात्मकता भी सराहनीय है। सूर के अतिरिक्त अष्टछाप के अन्य कवियों ने भी हिंदी गीतिकाव्य की परंपरा को विकसित किया है। प्रेमयोगिनी मीरा के पद भी विशेष रूप से प्रशंसनीय हैं तथा प्रेमानुभूति का जैसा सुन्दर मर्मस्पर्शी चित्रण उन्होंने किया है वैसा बहुत कम कवि कर सके हैं। आत्मनिवेदन, आत्म-क्रंदन, हृदय का कसक, प्रेम की पुकार, संगीत का प्रवाह, सुकुमार भावाभिव्यक्ति और मधुरता आदि गुण मीरा के गीतिकाव्य में स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। कृष्णकाव्य की परंपरा में तुलसी की कृष्णगीतावली का भी उत्कृष्ट स्थान है यद्यपि वह सूरसागर से विशेष रूप से प्रभावित जान पड़ती है तथा उसमें उन्हीं प्रसंगों का वर्णन किया गया है जिन्हें सूर ने भी अंकित किया है। तुलसी ही एकमात्र रामकाव्य की परम्परा में गीतकाव्य के रचयिता माने जाते हैं तथा 'रामगीतावली' में उन्होंने मुक्तक पदों द्वारा रामचरित्र की कथा वर्णन की है। गीतिकाव्य के अनुकूल विषयों का ही उसमें चयन किया गया है और बहुत से प्रसंग

---

१. दे०—हिंदी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल पृष्ठ १७२

छोड़ भी दिए गए हैं। 'विनय-पत्रिका' के पदों में अवश्य आत्म-निवेदन, आत्माभिव्यक्ति, दार्शनिकता और तन्मयता का अपूर्व विकास देख पड़ता है। तुलसी के गीतिकाव्य में बुद्धिपक्ष और हृदयपक्ष दोनों की प्रबलता है।

रीतिकालीन प्रवृत्तियों के प्रारंभ होने से गीति-काव्य का विकास अवरुद्ध सा हो गया और रीति-ग्रंथों का सृजन उत्तरोत्तर द्रुतगति के साथ होता रहा। राधा और कृष्ण की प्रेमलीलाओं की ओट में नायक नायिका के विलासितापूर्ण चित्रों को अंकित किया जाने लगा तथा इस प्रकार कुरुचि उत्पादक वासना-मूलक वर्णनों की बहुलता सी देख पड़ने लगी। प्रेमानुभूति की दृष्टि से घनानंद अवश्य मीरा की समकक्षता कर सकते हैं क्योंकि उनके पदों में तथा साथ ही सवैयों में भी विरह-भावनाओं की तीव्रता और गंभीरता झलक उठती है। नागरीदास, अलबेलीअलि, चचाहित-वृंदावनदास और भगवतरसिक आदि रीतिकालीन गीतिकारों के गीतों में प्रगीतत्व का निखरा हुआ रूप देख पड़ता है परंतु भावाभिव्यक्ति, शब्द-योजना, पदलालित्य और रागात्मकता की दृष्टि से इनके पदों में अष्टछाप की प्रवृत्तियों की ही पुनरावृत्ति की गई है तथा नवीनता का अभाव सा है।

व्यक्तिगत भावनाओं की प्रधानता होने से आधुनिक हिंदी साहित्य में गीतिकाव्य का ही विकास विशेष रूप से हुआ। भारतेन्दु के जिनसे कि हिंदी साहित्य के आधुनिक युग का प्रारम्भ माना जाता है, गीति-काव्य में दो धाराएँ स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती हैं। एक ओर तो उन्होंने राधा-कृष्ण की प्रेमलीलाओं का चित्रण किया है और आत्माभिव्यक्ति को प्रधानता दी है तथा दूसरी ओर राष्ट्रीय गीतों की परम्परा को अंकुरित किया है जिनमें कि सामायिक भावनाओं की प्रधानता है तथा कल्पना की अपेक्षा वास्तविकता ही विशेष रूप से है। नाटकीय

गीतों की परम्परा भी वस्तुतः भारतेन्दु द्वारा ही अंकुरित हुई है यद्यपि उसे पल्लवित करने का श्रेय 'प्रसाद' को प्राप्त हुआ। भारतेन्दु की भाँति पं० सत्यनारायण कविरत्न ने भी कृष्ण की अनन्य भक्ति का पदों में चित्रण किया है तथा सूर की सी आत्माभिव्यंजना, मीरा की सी कसक और घनानंद की सी मर्मस्पर्शिता उनके पदों में भी झलक उठती है। देश की दुःखपूर्ण दशा को भी कहीं-कहीं उन्होंने अंकित किया है। भारतेन्दु युग के पश्चात् द्विवेदी युग में वस्तुतत्व और वर्णन-प्रणाली को ही काव्य में प्रधानता दी जाती रही जिससे कि शुष्क नैतिकता और इतिवृतात्मकता की ही प्रधानता रही। पं० श्रीधर पाठक, श्री मैथिलीशरण गुप्त और श्री सियारामशरण गुप्त इस युग के प्रमुख हिंदी गीतिकार हैं। पाठक जी के गीतों में प्राकृतिक-सौंदर्य का मनोमुग्धकारी चित्रण किया गया है और देश-प्रेम की भावनाएँ भी अंकित की गई हैं। पाठक जी को गीति-काव्य में स्वच्छंदता-वाद का प्रवर्तक भी माना जाता है। गुप्त जी के गीतों में उनकी बहुमुखी काव्य-साधना स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। 'साकेत' और 'यशोधरा' जैसे प्रबन्ध-काव्यों में भी कई सुन्दर-सुन्दर गीतों का समावेश हुआ है जिनमें कि हृदयस्पर्शी भाव-व्यंजना की गई है। 'कुणाल गीत' में कुणाल की विभिन्न मनोभावनाओं का चित्रण किया गया है और हृदय-पक्ष की अपेक्षा बुद्धिपक्ष को ही प्रधानता दी गई है। श्री विनयमोहन शर्मा के शब्दों में—"गुप्तजी के गीतों में वेदना की गहरी अनुभूति और कोमल शब्द-योजना पाई जाती है तथा छायावाद युग की विभिन्न प्रवृतियों के दर्शन भी उनमें होते हैं।"[1] झंकार के गीतों में रहस्यात्मक अनुभूतियों का ही समावेश हुआ है।

---

१. दे०—दृष्टि कोण—श्री विनयमोहन शर्मा— पृष्ठ ७७

वस्तुतः प्रसाद युग को ही हिंदी गीति-काव्य का स्वर्णकाल मानना अधिक उचित होगा क्योंकि प्रसाद पंत, निराला और महादेवी के गीतों में वे सभी विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं जो कि अंग्रेजी साहित्य में 'लिरिक' में आवश्यक मानी जाती हैं। रीतिकालीन शृंगारिकता के फलस्वरूप द्विवेदी युग में उपदेशात्मकता एवं इतिवृत्तात्मकता की ही प्रधानता रही परन्तु उसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप प्रसाद युग में छायावाद और रहस्यवाद का प्रादुर्भाव हुआ। छायावाद तो काव्य की अंतर्मुखी प्रवृत्ति ही है तथा उसमें शब्दों की अभिधाशक्ति की अपेक्षा लक्षणा और व्यंजना-शक्ति पर ही विशेष जोर दिया जाता है। छायावादी कवि बाह्यप्रकृति के चित्रण में आध्यन्तरिकता को ही प्रधानता देते हैं और प्राकृतिक चित्रों का मानवीकरण करके अंकित करते हैं। आचार्य शुक्ल जी रहस्यवाद को छायावाद का विषयगत पक्ष मानते हैं तथा श्रीमती महादेवी वर्मा उसे छायावाद की दूसरी मंजिल मानती हैं और उनका विचार है कि—"आज गीत में हम जिसे रहस्यवाद के रूप में ग्रहण कर रहे हैं वह इन सब की विशेषताओं से युक्त होने पर भी उन सबसे भिन्न है। उसने पराविद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छायामात्र ग्रहण की, लौकिक-प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य भावसूत्र में बाँधकर एक निराले स्नेह-सम्बंध की सृष्टि कर डाली जो मनुष्य के हृदय को पूर्ण अवलम्ब दे सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका।" [१] छायावाद और रहस्यवाद के प्रभाव से हिंदी गीति-काव्य के रूपों में विविधता का आविर्भाव हुआ तथा नवीन प्रणाली के गीतों का सृजन किया

---

१. दे०—महादेवी का विवेचनात्मक गद्य

गया। छायावाद जीवन-संग्राम में प्रवृत्त होने के प्रति भी उदासीन नहीं है—

अब जागो जीवन के प्रभात !
रजनी की लाज समेटो तो
अरुणाँचल में चल रही वात
अब जागो जीवन के प्रभात !

प्रसाद के गीतिकाव्य में आभ्यंतरिक अनुभूतियों की प्रधानता है तथा सौंदर्य और प्रेम का मनोमुग्धकारी चित्रण भी उसमें है। उनके नाटकीय गीतों में रागरागिनियों की आदर्श योजना है। परम्परागत पदशैली एवं ब्रजभाषा की संकीर्णता से हिंदी-गीतिकाव्य को उन्मुक्त कर उसे एक नूतन रूप प्रदान करने का श्रेय उन्हें ही है। उन्होंने अपने गीतिकाव्य में युग की नवीन प्रवृत्तियों का भी सूत्रपात किया है। 'आँसू' में जिसे कि हिंदी का एक उत्कृष्ट गीतिकाव्य माना जाता है अन्तर्जगत की हृदयस्पर्शी अभिव्यंजना है तथा 'लहर' और 'झरना' के गीतों में प्रकृति-सौंदर्य का मनोरम चित्रण है। 'कामायनी' में प्रबंध और मुक्तक दोनों का समन्वय देख पड़ता है। इस प्रकार प्रसाद का गीतिकाव्य निस्संदेह सराहनीय है तथा श्री रामनाथ 'सुमन' के शब्दों में—"इस कवि में जो मस्ती है भावना एवं अनुभूति की जो मृदुता है और मानव जीवन के उत्कर्ष का जो गौरव है, उसे देखते हुए उसकी प्रतिभा गीतिकाव्य की रचना के अत्यंत उपयुक्त थी।"[१] युग प्रवर्तक कवि निराला ने साहित्य की पुरातन प्रवृत्तियों के प्रति विद्रोह प्रदर्शित करते हुए काव्य को रूढ़िगत बन्धनों से मुक्त करने का प्रयास किया। संगीत को

१. दे०—कविप्रसाद की काव्य साधना—श्री रामनाथ 'सुमन' पृष्ठ १५७

काव्य के और काव्य को संगीत के अधिक समीप लाने का श्रेय भी उन्हें ही दिया जाता है। उनके गीतों में कहीं-कहीं शृंगार के निरावरण चित्र भी देख पड़ते हैं परन्तु उनमें अश्लीलता नहीं है। चूंकि वे भारतीय परम्परागत अद्वैतवाद के प्रतिपादक हैं अतः उनके गीतों में कहीं-कहीं दार्शनिकता का इतना अधिक समावेश हो गया है कि उनकी गहन विचार-धारा पाठकों के लिए नितान्त अस्पष्ट और दुर्बोध सी जान पड़ती है परन्तु ऐसे स्थलों का भी अभाव नहीं है जहाँ कल्पना, भावुकता, सरलता और मधुरता का भी समावेश हुआ है। यद्यपि वे पुरुषप्रधान कवि हैं परन्तु प्राकृतिक वस्तु के रूप, भाव और वातावरण को लेकर प्रकृति का बड़ा ही सुन्दर मूर्तिमान रूप उन्होंने अंकित किया है। श्री शांतिप्रिय द्विवेदी के शब्दों में—'निराला के अधिकांश गीतों में उनकी कला, अभिव्यक्ति के लिए जितनी सचेष्ट है, उतनी अभिव्यक्ति के प्रति तन्मय नहीं। उनका काव्य-पांडित्य उनके कवि को सहज नहीं रहने देता। जहाँ उनमें सहज स्वाभाविक तन्मयता है, वहां उनकी कला अपनी अनुभूति से मार्मिक भी हो गई है।"[1] पंत जी को तो प्रकृति-निरीक्षण से ही कविता की प्रेरणा मिली है और इस प्रकार सौंदर्यात्मक अनुभूति ने ही उनकी भावनाओं को अनुरंजित किया है। उनके गीतिकाव्य में प्रकृति सौंदर्य का चित्रण विविध शैलियों में किया गया है। 'ग्रंथि' में तो कवि ने मानसिक उद्रेकों का भी हृदयग्राही चित्रण किया है। पंत की कल्पना-शक्ति भी विलक्षण है तथा भावजगत भी विस्तृत है। 'गुंजन' में वे सुन्दरम् से अधिक शिवम् की ओर आकर्षित हुए हैं तथा उसमें विश्वमंगल की भावनाओं की ही अभिव्यंजना की गई है। 'युगान्त' और 'युगवाणी' में तो उन्होंने प्रगतिवादी भावनाओं का चित्रण किया है तथा 'स्वर्ण-

1 दे०—संचारिणी-श्री शांतिप्रिय द्विवेदी पृष्ठ ८

किरण और 'स्वर्णधूलि' में आध्यात्मिकता का समावेश हुआ है। इस प्रकार पंत के गीतों में उनकी बहुमुखी काव्यप्रतिभा दृष्टिगोचर होती है। श्रीमती महादेवी वर्मा छायावाद युग की प्रमुख कवियित्री हैं तथा उनके गीतों में उसी युग की शैली का अनुसरण, भावों की अभिव्यक्ति, और भाषा का प्रयोग देख पड़ता है। संत-कवियों की सी रहस्यानुभूति तथा मानस की चिरंतन विकलता और ब्रह्म के संयोग के हेतु अत्यधिक उत्सुकता भी उनके गीतों में देख पड़ती है। दुःख से उन्हें स्वाभाविक प्रेम है तथा उन्हीं के शब्दों में— "दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एकसूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है।" उनके गीत इतने अधिक अन्तमुर्ख हैं कि उनमें प्रकृति--पर्यवेक्षण का अभाव सा देख पड़ता है। भावनाओं की सुकुमारता, संगीत की तारतम्यता, मधुर-पीड़ा का भार और मानस की कसक उनके गीतों में विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है। श्री रामकुमार वर्मा के गीत विशेष रूप से रहस्यवादी हैं तथा श्री भगवतीचरण वर्मा के गीतों में चिन्तन की अपेक्षा भावावेश और आत्माभिव्यक्ति ही विशेष रूप से है तथा प्रेमी के उन्मत्त हृदय की विह्वलता ही अंकित की गई है। डा. रामप्रसाद त्रिपाठी के शब्दों में—"वर्माजी के प्रेम सम्बन्धी विचार भी अपना दृष्टिकोण रखते हैं। फारसी उर्दू की इश्क सम्बन्धी विचारधारा से आपकी कल्पना प्रभावित है और उसमें सूफिक और नवीन वेदान्त की पुट है जिससे उसमें एक विशेष चमक पैदा हो गई है।" बच्चन यद्यपि हालावादी कवि के रूप में ही विशेष प्रसिद्ध हैं परन्तु हालावाद को बहुत पीछे छोड़ युग की यथार्थ भावनाओं का मर्मस्पर्शी अंकन ही अब उन्होंने अपने आधुनिक गीतों में किया है। उनका व्यक्तित्व विद्रोह की प्रतिमूर्ति है और उनके गीतों में विद्रोही भावनाओं की झलक

भी है। अपनी निजी व्यक्तिगत भावनाओं को जिस वास्तविकता और स्वाभाविकता के साथ बच्चन ने चित्रित किया है वैसा बहुत कम कवि कर सके हैं। श्री नरेन्द्र शर्मा के 'प्रवासी के गीत' और 'पलाशवन' में लौकिक प्रेमानुभूति और यथार्थवादी भावनाओं की अधिकता है। श्री माखनलाल चतुर्वेदी, श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन, श्री सोहनलाल द्विवेदी और श्री रामधारी-सिंह 'दिनकर' ने राष्ट्रीय गीतों का सृजन किया है तथा युग की नवीन प्रवृत्तियों का भी चित्रण किया है।

छायावाद की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप प्रगतिवाद का प्रादुर्भाव हुआ और मार्क्सवादी क्रांति की सामूहिक भावनाओं का ही चित्रण विशेष रूप से किया जाने लगा। प्रगतिवादी गीतों में किसान मजदूरों के प्रति सहानुभूति और पूँजीपतियों तथा शोषक वर्गों के प्रति विद्रोह व्यक्त किया जाने लगा उनमें यथार्थवादी भावनाओं की भी अधिकता है और प्रेमवर्णन में भौतिकता को ही प्रधानता दी गई है। प्रगतिवाद राजनैतिक दृष्टिकोण की प्रमुखता के कारण स्थायी न रह सका तथा श्री भगवतीचरण वर्मा के शब्दों में--"प्रगतिवाद को मैं प्रचारात्मक साहित्य ही मान सकता हूँ। जहाँ मनुष्य के मूल्यांकन, उसके विश्वास, उसकी भावनाएँ कहीं और से शासित या संचालित होती हैं, जहाँ मनुष्य राजनीतिक फतवों पर या राजनैतिक आदेशों पर साहित्य का सृजन करता है, वहाँ वह साहित्य प्रचारात्मक रह जाता है उसमें जीवन नहीं होता।"[१६] परन्तु प्रचारात्मक भावनाओं और राजनैतिक दृष्टि-कोण से न्यून कुछ प्रगतिवादी गीत भी लिखे गए तथा अंचल, श्री उदयशंकर भट्ट और दिनकर के गीतों में जनकल्याण की भावना ही विशेष रूप से देख पड़ती है। प्रगतिवाद की एकांगिता के फलस्वरूप हिंदी कविता में प्रयोगवाद नामक एक नवीन वाद

का प्रादुर्भाव हुआ। प्रगतिवादी नूतन वस्तुतत्त्व पर जोर देते हैं तो प्रयोगवादी कवि नये रूप-विधान को आवश्यक समझते हैं। श्री सुमित्रानदंन पंत के शब्दों में "प्रयोगवादी काव्य जहाँ अपनी शैली तथा रूप-विधान में अति वैयत्तिक हो जाता है वहाँ अपनी भावना में जनवादी। वह छायावादी स्वप्नों के कोहरे को हटाकर एक नवीन वास्तविकता के मुख को पहिचानना चाहता है और सूक्ष्म भावजगत से हटकर फिर से वास्तविकता की भूमि पर उतरना चाहता है।" अज्ञेय जी का मत है कि—"प्रयोग द्वारा कवि अपने सत्य को अच्छी तरह जान सकता है और अधिक अच्छी तरह अभिव्यक्त कर सकता है।" 'तारसप्तक' और 'दूसरा सप्तक' नामक कविता-संग्रहों में संगृहीत कवियों ने हिंदी गीतिकाव्य में प्रयोगवाद को विकसित करने में बहुत अधिक प्रयास किया है। वस्तुतत्त्व और रूप-विधान की नवीनता को हम भी स्वीकार करते हैं परन्तु प्रयोगवादी कवियों ने प्रयोग के नाम पर कविता के कला पक्ष का जो ह्रास किया है उसे उचित नहीं समझते। प्रयोगवादी गीतों की भाषा में कई प्रकार की विविध शैलियाँ दृष्टिगोचर होती हैं और कहीं तो तत्सम-संस्कृत-शब्दावली देख पड़ती है, कहीं निरी अरबी-फारसी की प्रधानता है, तो कहीं ग्रामीण शब्दों की ही बहुलता है और कहीं तो अँग्रेजी शब्दों का ही आधिक्य रखा गया है। इस प्रकार डा० सत्येन्द्र ने उचित ही लिखा है—"प्रयोग के लिए प्रयोग करना बुरा नहीं है किन्तु तभी तक जब तक वह प्रयोग है प्रलाप नहीं। प्रत्येक प्रयोग में प्रयोग विषयक सारगर्भिता और सार्थकता अवश्य होनी चाहिए। जो प्रयोग केवल 'विलक्षण-विचक्षण' के मोह में किए जाते हैं उनसे भाषा और साहित्य दोनों का अहित हो सकता है।" [१७]

इस प्रकार हिन्दी गीतिकाव्य की परम्परा आधुनिक युग में

भी उसी प्रकार विद्यमान है जैसी कि वह प्राचीन काल में थी बल्कि विशेष सुन्दर तो यह होगा यदि हम यह कहें कि आधुनिक हिन्दीकाव्य में वस्तुतः गीतिकाव्य की ही प्रधानता रही है उपर्युक्त गीतिकारों के साथ साथ, श्री वीरात्मा, श्री जानकीवल्लभ शास्त्री, नैपाली, श्री आरसीप्रसाद सिंह, श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन,' डा. सुधीन्द्र, श्री सुभद्राकुमारी चौहान, नीरज आदि कवियों ने भी अपने सुमधुर गीतों द्वारा हिन्दी गीतिकाव्य की अभिवृद्धि की है। हमारे हिन्दी गीतिकाव्यकारों ने प्रत्येक काल की भावनाओं का वास्तविकतापूर्ण चित्रण किया है और प्रत्येक युग की नवीन प्रवृत्तियों तथा नवीन प्रयोगों की अभिव्यक्ति में भी वे सचेष्ट रहे हैं। प्रगीतत्त्व की सभी आवश्यक विशेषताएँ आधुनिक हिन्दी गीतिकाव्य में दृष्टिगोचर होती हैं और साहित्यिक रूप लावण्य के साथ-साथ रागरागिनियों की आदर्श योजना भी देख पड़ती है। इस प्रकार हिन्दी-गीतिकाव्य का विगत तो सुंदर था ही, वर्तमान भी निस्संदेह श्रेष्ठतम है और आशा है भविष्य भी समुज्ज्वल होगा।

———

२. विद्यापति का कवित्व तथा पांडित्य

ईसा की पहली शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्द तक की अवधि के मध्य यद्यपि संस्कृत साहित्य में कई एक से एक सुंदर महाकाव्यों, नाटकों, आख्यानों और उपाख्यानों का सृजन हुआ परन्तु जैसी प्रसिद्धि और लोकप्रियता जयदेव को प्राप्त हुई वैसी बहुत ही कम तत्कालीन साहित्यकारों को प्राप्त हुई होंगी। जयदेव ने कालिदास के सदृश्य रघुवंश और कुमार सम्भव, भारवि के सदृश्य किरातार्जुनीय, और माघ के सदृश्य शिशुपालवध जैसे महाकाव्यों का सृजन नहीं किया बल्कि एक , सर्वथा नवीन पद्धति का प्रचलन किया। बारहवीं शताब्दी में तो जयदेव के 'गीत-गोविन्द' ने भारतीय गीतिकाव्य में एक प्रकार की उत्क्रान्ति सी मचा दी। यद्यपि गीतिकाव्य की परम्परा इतना ही अधिक प्राचीन है जितना कि वेद परन्तु स्वतन्त्र गीतिकाव्य का वास्तविक प्रवर्तक जयदेव को ही माना जाता है।[1]

जयदेव सौंदर्य और प्रेम के कवि थे तथा राधाकृष्ण के सौंदर्य और प्रेम तथा संयोग और वियोग का ही वर्णन उन्होंने

---

१. प्रसन्नता की बात है कि सुप्रसिद्ध आलोचक, निबंधकार तथा कवि श्री विनयमोहन शर्मा ने जयदेव के 'गीतगोविन्द' का बड़ा ही सुंदर और सरस रूपान्तर 'हिन्दी गीतगोविन्द' के नाम से प्रस्तुत कर हिंदी साहित्य की अभिवृद्धि की है।

'गीतगोविन्द' में किया है। शृंगार की अनवरत रसधारा को प्रवाहित करने का श्रेय भी उन्हें ही दिया जाता है। जयदेव सर्व-प्रथम कवि हैं जिन्होंने राधा और कृष्ण के प्रेमवर्णन को ही अपनी लेखनी का प्रमुख विषय बनाया है। यद्यपि ईसा की छठवीं शताब्दी के पूर्व ही राधा का वर्णन किया जाता रहा है पर इसमें किंचितमात्र भी संदेह नहीं कि राधा को प्रकाश में लाने का श्रेय जयदेव को ही देना होगा। प्राचीन उपनिषदों आदि में 'राधस' शब्द का उल्लेख अवश्य मिलता है परन्तु उसमें 'राधा' शब्द का प्रयोग ज्योति, भक्ति, श्री, धन-धान्य, हरी-भरी सुषमा तथा आराधना आदि के अर्थ में ही किया गया है। श्रीमद्भागवत की "अनयाराधितो नूनं भगवान हरिरीश्वरः" नामक पंक्ति में की 'राधा' से आराधना का अर्थ ही स्पष्ट होता है किन्तु पद्मपुराण, स्कंदपुराण और ब्रह्मवैवर्त पुराण में तो राधा को कृष्ण की परकीया प्रेमिका के रूप में ही चित्रित किया गया है। सहजिय सम्प्रदाय से परकीया पूजन की प्रथा ने वैष्णवों के कृष्णपंथ में प्रवेश किया। डा० दिनेशचन्द्र सेन ने History of Bengali language and Literature नामक ग्रंथ के पृष्ठ १२७ में लिखा है—"राधा का विवाह आयन घोष के साथ हुआ था परन्तु उसे कृष्ण की प्रेमिका मानकर उसकी उपासना प्रारम्भ की गई।"

ईसा की दूसरी शताब्दी से पाँचवीं शताब्दी के मध्य बने 'पंचतंत्र' (मित्र लाभ प्रथम तंत्र) की विष्णु रूपधारी रथकार कथा में भी राधा को कृष्ण की परकीया प्रेमिका के रूप में ही चित्रित किया गया है—

"गत्वा ताम-आह राजपुत्रि ! सुप्ता किम्बा जागर्षि: । अहं तव कृते समुद्रात्सानुरागो लक्ष्मीं विहायैवागतः । तत् क्रियतांमया सह समागम इति । सापिगरुढारूढं चतुर्भुजं सायुधं कौस्तुभोपेतभवलोकस्य

स विस्मया शयना दुत्थाय । प्रोवाच—'भगवन् ! अहं मानुसी कीटिकाऽशुचिः । भगवांस्त्रैलोक्य पावनो वंदनीयश्च । तत्कथमेतद्युज्यते ? कौलिक आह—सुभगे ! सत्यमभिहितं भवत्या परं किन्तु राधा नाम मे भार्या गोपकुल प्रसूता प्रथम भासीत्, सा त्वमत्रावतीर्णा । तेनाहम् —अत्रायात्रः इत्युक्ता सा प्राह.......................... ।"

—पंचतंत्र नृसिंहदेव शास्त्री संस्करण (१६३२ ई० पृष्ठ १२१-२२)

यद्यपि पंचतंत्र से पूर्व गाथा सहाशती में भी राधा का उल्लेख किया गया है किन्तु पंचतंत्र के उपरान्त तो राधा का साहित्य और पुरातत्त्व दोनों में वर्णन किया जाने लगा । पृथ्वीवल्लभ मुंज के दरबारी कवि धनंजय के दशरूपक के चौथे परिच्छेद में राधा का उल्लेख दो श्लोकों में किया गया है तथा मालवा के राजा भोज ने भी अपने 'सरस्वती कंठाभरण' में राधा विषयक आठ श्लोक प्राचीन ग्रन्थों से उद्धृत किये हैं । आनन्द-वर्धन जी ने 'ध्वन्यालोक' (सन् ८५० ई०) में और रुद्रट की काव्यालंकार की टीका में नमि साधु जी ने भी राधा का उल्लेख किया है । पाँचवीं-छठी शताब्दी की देवगिरि और पहाड़पुर की मूर्तियों को पुरातत्ववेत्ता राधा और कृष्ण की प्रेम लीलाओं की ही मूर्तियाँ मानते हैं । (दे० गंगा पुरातत्त्वांक—पहाड़पुर की खुदाई—श्री के० एम० दीक्षित) पृथ्वीवल्लभ मुंज के सन् ६७४ ई० तथा सन् ६७६ ई० के ताम्रपत्रों के मंगलाचरण के दो श्लोकों में भी राधा का उल्लेख किया गया है । धारा के अमोघवर्ष के सन् ६८० ई० के शिलालेख में भी राधा का उल्लेख कृष्ण की प्रेमिका के रूप में हुआ है । (दे० गुजरात और उनका साहित्य—श्री के० एम० मुंशी) इस प्रकार बारहवीं शताब्दी के पूर्व ही राधा शृंगारी साहित्य में अवतरित हो चुकी थीं परन्तु राधा और कृष्ण के प्रेमवर्णन की परम्परा गीतगोविन्द के सृजन के उपरान्त ही तीव्र गति से चल सकी । हिंदी में कृष्ण भक्ति विषयक

कविताओं का जो स्रोत प्रवाहित हुआ है उसका श्रेय जयदेव को ही प्रदान करना होगा क्योंकि हिंदी साहित्य में कृष्ण काव्य के जन्मदाता विद्यापति ने गीतगोविन्द से ही प्रेरणा ग्रहण कर राधाकृष्ण के सौंदर्य, प्रेम, संयोग तथा वियोग के चित्रों को अपनी पदावली में अंकित किया है। विद्यापति की पदावली जयदेव के गीत गोविन्द से विशेषरूप में प्रभावित है।

विद्यापति का जन्म मिथिला के विसपी ग्राम में हुआ था और उनके पिता का नाम गणपति ठाकुर, पितामह का जयदत्त ठाकुर और प्रपितामह का धीरेश्वर ठाकुर था। विद्यापति के पूर्वज बड़े ही विद्वान और संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। इस प्रकार उनको कवित्व शक्ति पैतृक ही प्राप्तथी। वे राजाश्रित कवि थे तथा शिवसिंह उनके प्रमुख आश्रयदाता थे। विद्यापति की पदावली में कई ऐसे पद्य भी दृष्टिगोचर होते हैं जिनमें राजा शिवसिंह और रानी लखिमादेवी का उल्लेख हुआ है। शृंगाररस का जहाँ भी वर्णन हुआ है वहाँ विद्यापति ने प्रायः यही लिखा है कि इस रस को राजा शिवसिंह और रानी लखिमा देवी ही जानते हैं। एक दो उदाहरण देखिए—

राजा सिवसिंह रूप नरायन।
लखिमापति रस जान॥

और भी—

मन कबि विद्यापति काम-रमनि रति कौतुक बुझ रसमन्त।
सिव सिवसिंघ राउ पुरुष सुकृत पाउ लखिमा देह रानि कन्त॥

इससे यह स्पष्ट है कि राजा शिवसिंह कवि का बहुत अधिक सम्मान करते थे।

महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री विद्यापति को "बंगाल और मिथिला का आदि कवि और महाकवि मानते हैं" परन्तु भाषा की दृष्टि से विचार करने पर विद्यापति की कृतियाँ संस्कृत, अवहट्ठ (अपभ्रंश) और देशी नामक तीन

भागों में विभाजित की जा सकती हैं। विद्यापति संस्कृत के प्रकांड पंडित थे तथा भूपरिक्रमा, पुरुषपरीक्षा, लिखनावली, शैव सर्वस्व-सार, वर्ष-कृत्य, गया पत्तलक और पांडवविजय नामक रचनाएँ उन्होंने संस्कृत में ही लिखी हैं। इनमें से कुछ तो उपदेश के विचार से लिखी गई हैं, कुछ व्यवहार की दृष्टि से और कुछ कर्मकांड की दृष्टि से। शुद्ध काव्य सौंदर्य की झलक इनमें से किसी में भी नहीं देख पड़ती परन्तु हाँ इनसे यह अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि विद्यापति का संस्कृत पर पूर्ण आधिपत्य था। विद्यापति की हृद्गत् आकांक्षा देशीभाषा को ही ग्रहण करने की थी तथा 'कीर्तिलता' में उन्होंने लिखा भी है—

सक्कय वाणी बहुअ न भावइ
पाउँअ रस को मम्म न पावइ
देसिल बअना सब जन मिट्ठा
ते तैसन जम्पओ अवहट्ठ।

अर्थात् संस्कृत वाणी अधिकतर लोगों को पसन्द नहीं आती सिर्फ बुद्धिमान पंडित ही उसे पसन्द करते हैं और प्राकृत तो रस का मर्म नहीं पाती। देशी भाषा सबको मधुर लगती है इसलिए इस कीर्तिलता की रचना अवहट्ठ में ही की गई है।

उपर्युक्त अवतरण द्वारा विदित होता है कि विद्यापति के समय में संस्कृत के प्रति बहुत से विद्वान अरुचि प्रदर्शित करने लगे थे; तथा प्राकृत भी रसधारा प्रवाहित करने में असमर्थ सी थी। हाँ, देशी भाषा की ओर सभी आकर्षित थे तथा अवहट्ठ को भी मधुरतम भाषा मानते थे। विद्यापति ने अवहट्ठ को प्राकृत की श्रेणी में न रख देशी भाषा की श्रेणी में माना है। अवहट्ठ अपभ्रंश का ही रूपान्तर है तथा नमिसाधु जी ने 'काव्यालंकार' की टीका में "षष्टोऽत्र भूरिभेदो देश-विशेषादपभ्रंश" की

व्याख्या करते हुए 'अभीरी' के प्रसंग में लिखा है "आभीरी-भाषा अपभ्रंशस्थाकथिता क्वचिन्भागध्यामपि दृश्यते।" इससे स्पष्ट होता है कि एक ही अपभ्रंश के देश विशेष फे अनुसार बहुत से भेद हो गए थे और उन्हीं भेदों में से एक का प्रचार मगध में भी था। नमिसाधु के समय (नवीं शताब्दी में) जिस अपभ्रंश का प्रचार मगध में था, शनैः शनैः वह अब चारों ओर विस्तृत हो चुकी थी। विद्यापति ने अपभ्रंश के इस बढ़ते हुए प्रचार को ही देखकर अपनी काव्य रचना का प्रारम्भ अवहट्ठ (अपभ्रंश) में किया।

परन्तु विद्यापति के अपभ्रंश की कुछ निजी विशेषताएँ भी हैं क्योंकि जिस समय उन्होंने कीर्त्तिलता और कीर्त्ति-पताका की रचना की उस समय देश भाषा का भी प्रचार हो चुका था और काव्य भाषा का स्थान देश भाषा ने ग्रहण कर लिया था। इस प्रकार अपभ्रंश पर देश भाषा का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है। आचार्य शुक्ल ने तो इसीलिए विद्यापति की अपभ्रंश को पूरबी अपभ्रंश माना है।[1] विद्यापति की अपभ्रंश में क्रियाओं के बहुत से रूप पूरबी हैं तथा संस्कृत के तत्सम शब्दों का भी उतना बहिष्कार नहीं पाया जाता जितना कि उनके पूर्ववर्ती कवियों की कृतियों में दृष्टिगोचर होता है।[2]

किन्तु विद्यापति को जो प्रसिद्धि आज प्राप्त है वह इन अपभ्रंश की कृतियों के कारण नहीं बल्कि देशी भाषा में लिखो पदावली के कारण विद्यापति ने अपने समय की प्रचलित मैथिली भाषा में अपनी पदावली की रचना की है। मैथिली भाषा को अपनाने से बंगभाषा वाले उन्हें अपना कवि मानते हैं परन्तु

---

१. दे०—हिंदी साहित्य का इतिहास (पृष्ठ २६—२७)

२. दे०—हिंदी कवियों की काव्य साधना (पृष्ठ ४३—४६)

वास्तव में वे हिंदी के ही कवि हैं। यद्यपि सरजार्ज ग्रियर्सन जैसे विद्वानों ने भी बिहारी और मैथिली को हिन्दी से अलग माना है परन्तु भाषा शास्त्र की ही दृष्टि से किसी कवि की काव्य भाषा पर विचारकर यह कहना कि उसकी भाषा अमुक देश की है; उचित नहीं जँचता। पदावली की भाषा का मेल जितना अवधी से है उतना बँगला से नहीं। जब कि राजस्थानी, कन्नौजी, खड़ी बोली और ब्रज आदि के रूपों और प्रत्ययों में पारस्परिक गहरा मतभेद होते हुए वे भी हिंदी के अंतर्गत ही मानी जातीं हैं तब पदावली की भाषा को ही हिंदी से विभिन्न कैसे माना जा सकता है। जब कि 'वीसलदेव रासो' और 'खुम्मान रासो' पर हिंदी साहित्य अपना अधिकार रखता है तब पदावली पर उसका अधिकार क्यों न हो। पदावली की भाषा में पूर्वी हिन्दी की क्रियाओं और कारकों के रूप जैसे के तैसे मिलते हैं। जिस प्रकार मैथिली में स्वरों के अलग अलग रहने की प्रवृत्ति है उसी प्रकार पूर्वी हिंदी में भी है। हिंदी के अनुकूल ही सर्वनामों के रूप भी विद्यापति की पदावली में मिलते हैं। इस प्रकार पदावली की भाषा बँगला से अधिक हिंदी के सन्निकट है।

पदावली की भाषा सुमधुर और सरस है तथा उसमें सर्वत्र ही माधुर्य और प्रसाद गुणों की अधिकता है।ओज यदि देखना हो तो वह उनकी अपभ्रंश की रचनाओं में ही विशेप रूप से दृष्टिगोचर होता है। संस्कृत के तत्सम शब्द भी पदावली में कहीं कहीं देख पड़ते हैं। यद्यपि मैथिली भाषा उस समय नई नई ही थी परन्तु विद्यापति की पदावली में प्रौढ़ता विद्यमान है। प्रायः कोमलकान्त पदावली ही सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। एक उदाहरण देखिए—

नव वृन्दावन नव नव तरुगण, नव नव बिकसित फूल।
नवल वसन्त, नवल मलयानिल, मातल नव अलिकूल ॥

बिहरई नवल किशोर।

कालिन्दी पुलिन कुञ्जवन शोभन नव नव प्रेम-विभोर ॥

यद्यपि रस को काव्य की आत्मा माना जाता है किन्तु अलंकार विहीन कविता में तो काव्यगत सुषमा का अभाव ही रहता है। भारतीय काव्य में अलंकारों को जो आदरणीय स्थान प्राप्त है वह पाश्चात्य काव्य में नहीं। यद्यपि 'उपमा कालीदासस्य' जैसी उक्तियाँ पाश्चात्य समीक्षकों को अखरती ही हैं किन्तु अलंकारों की महत्ता को वे भी स्वीकार करते हैं। प्रसिद्ध अँग्रेज समालोचक 'कीथ' ने लिखा भी है—"Kalidas's forte is declared to lie in similes and the praise is well deserved. True, the world of India is a different one from the west, the divine mythology and the belief of every day life are far other; but even so the beauty and force of similes and metaphors musn be recognised by any one who appreciates poetry."

विद्यापति की पदावली में अलंकारों का स्वाभाविक ही प्रयोग हुआ है। डा० दिनेशचन्द्र सेन का तो कहना है कि "विद्यापति की कवित्व शक्ति ईश्वर प्रदत्त थी।" कदाचित इसी से पदावली में व्यापक कवित्व और पांडित्य दृष्टिगोचर होता है। विद्यापति ने उपमा का अत्याधिक प्रयोग किया है तथा नायिका के ललित लोचनों का वर्णन तो उपमाओं की सहायता से ही किया गया है। देखिए—

नीर-निरंजन लोचन राता।
सिन्दुर मंडित जनि पंकज पाता ॥

अर्थात् जल में स्नान करने के फलस्वरूप नेत्र अंजन हीन और

अरुण हो गए हैं मानों कमल के पत्ते सिन्दूर के रंग में रंग दिए गए हों।

और भी—

लोचन जनु थिक भृंग अकार
मधुप मातल उड़य न पार।

अर्थात् दोनों नेत्र भ्रमर के सदृश्य हैं जो कि मुख रूपी कमल का रसपान कर उन्मत्त होने के कारण उड़ नहीं पाते।

उपमा के अतिरिक्त अन्य अलंकारों के उदाहरण भी पदावली में प्रचुरता से उपलब्ध होते हैं। कुछ उदाहरण देखिए—

अनुप्रास—

कमल मिलल दल मधुप चलल घर विहग गहल निज ठामे।
अरे रे पथिक जन थिर रे करिअ मन बड़ पाँतर दुर गामे॥

यमक—

सारँगनयन बयन पुनि सारँग, सारँग तसु समधाने।
सारँग उपर उगल दस सारँग केलि करथि मधु-पाने॥

श्लेष—

अतय चलह सखि भीतर कुंज।
जहाँ रह हरि[1] महाबल पुंज॥

अतिशयोक्ति—

कनक कदलि पर सिंह समारल तापर मेरु समाते।

व्यतिरेक—

अधर विम्ब अध आई।
भौंह भमर नासापुट सुन्दर
से देखि कीर लजाई।

१—यहाँ हरि से सिंह और कृष्ण दोनों का बोध होता है।

मीलित—

देह जोति ससि किरन समाइल
के विभिनावए पार ।

पर्यायोक्ति—

मरमक वेदन मरमहि जान,
आनक दुख आन नहि जान।

तद्गुण—

अनखुन माधव माधव रटइत
सुन्दर भेलि मधाई ।

अर्थान्तरन्यास—

कहहु विसुन सत अवगुन सजनी
तनि सम मोहि नहि आन ।
कतेक जतनसें मेटिय सजनी
मेटय न रेख परवान ॥

परिकर—

तुहु रस-आगर नागर ढीठ
हम न बुझिअ रस तीत को मीठ ॥

असंगति—

दिठि अपराध पुरान पय पीड़ा से
से तुअ कौन विवेक ?

कुछ ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिनमें कि कई अलंकारों का संकर या संसृष्टि पाई जाती है; जैसे कि निम्नांकित उदाहरण में उपमा, रूपक और विरोधाभास का संकर है—

चिकुर निकुर तम-सम, पुन आनन पुनिभ-ससी ।
नयन-पंकज के अति आओत एक ठाम रहु वसी ॥

विद्यापति ने लोकोक्तियों का भी अत्याधिक प्रयोग किया

है जिससे कि उनका भाषा-सौंदर्य और भी अधिक निखर उठा है। लोकोक्तियों के कुछ उदाहरण देखिए—

(१) धनिक क आदर सब तहँ होय, निर्धन बापुर पुछय न कोय।
(२) वैभव गेते रहय विवेक, तैसन पुरुष लाख थिक एक।
(३) निज धन अछइत नहिं उपभोगब केवल परहि क आस।
भनइ विद्यापति सुनु मथुरापति ई थिक अनुचित काज॥
(४) एहि संसार सार बथु एक तिल एक संगम, जावे जिव नेह।
(५) दीपक दिय सम थिर न रहय मन दृढ़ करु अपन गेआने।
(६) पानि तेल नहिं निविड़पिरीति।
(७) सिय सम कुलिस, बचन मधुधार, विष घट ऊपर दुध उपहार।

विद्यापति को अपने भाषा सौंदर्य पर स्वयं ही गर्व है तथा 'कीर्तिलता' में तो उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि बाल चंद्रमा और विद्यापति की भाषा इन दोनों को दुर्जनों की हंसी कलंकित नहीं कर सकती—

बालचंद बिज्जावइ भाषा।
दुहु नहिं लग्गई दुज्जन हासा॥
ओ परमेसर हर शिर सोहई।
ई णिच्चइ नाअर मन मोहई॥

विद्यापति की पदावली को मुक्तक काव्य की श्रेणी में ही रखना उचित होगा क्योंकि प्रबंध काव्य या खंड काव्य की श्रेणी में तो वह आ ही नहीं सकती। अभिनवगुप्ताचार्य जी मुक्तकपद की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि वे पद जिनका कि आगे या पीछे के दूसरे पदों से कोई सम्बन्ध न होने पर भी रसपूर्ण हों, मुक्तक कहलाते हैं —"मुक्तम् अन्येन नालिंगतम् मुक्तकम् तस्य संज्ञायां कन्। पूर्वापर निरपेक्षणापिहि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्।" मुक्तक काव्य में कवित्व का निखरा हुआ रूप

दृष्टिगोचर होता है तथा आचार्य शुक्ल जी के शब्दों में —"यदि प्रबंध काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है"।[1]

जिस प्रकार जयदेव ने गीत गोबिंद में राधाकृष्ण के सौंदर्य और प्रेम से परिपूर्ण चित्रों को ही अंकित किया है उसी प्रकार विद्यापति ने भी पदावली में राधाकृष्ण के सौंदर्य और प्रेम के चित्रों को ही प्रधानता दी है। विद्यापति के पद प्रधानतः तीन श्रेणियों में विभाजित किए जा सकते हैं—शृंगार सम्बन्धी, भक्ति सम्बन्धी, और विविध। विविध के अंतर्गत उन पदों को लिया जाता है जिनमें राजा शिवसिंह के राज्याभिषेक का वर्णन है। प्रहेलिका तथा कूट भी इसी श्रेणी के अंतर्गत हैं। भक्ति सम्बन्धी पदों में शिव की नचारियाँ, गंगा, दुर्गा, और गौरी की प्रार्थनाएँ आती हैं। विद्यापति-रचित शिव की नचारियाँ मंदिरों में अभी भी गायी जाती हैं और उन्हें भक्त भी माना जाता है परन्तु वास्तव में वे शृंगारी कवि ही थे। यदि थोड़े से भक्ति विषयक पदों के आधार पर ही उन्हें भक्त माना जाता है तो फिर देव और बिहारी को भी भक्तों की श्रेणी में स्थान देना होगा। साथ ही विद्यापति ने तो भक्ति में भी शृंगारिकता को ही प्रधानता दी है और पयोधरों को स्पर्श करती हुई मोतियों की माला उन्हें ऐसी प्रतीत होती है मानों शंकर के शीश पर सुरसरि की धारा प्रवाहित हो रही हो—

गिरिवर- गरुअ पयोधर - परसित
गिम गज - मोतिक हारा।
काम कम्बु भरि कनक संभु परि,
ढारत सुरसरि धारा॥

1. दे०—हिंदी साहित्य का इतिहास (पृष्ठ २७७)

इस प्रकार विद्यापति शृंगार के ही अत्यधिक प्रेमी प्रतीत होते हैं तथा उनकी मनोभावनाएँ मूलतः शृंगारिक ही थीं। विद्यापति की भावनाओं में से 'दम्पति' को विलग नहीं किया जा सकता तथा उन्होंने तो दोनों के मूल को ही 'रस' का मूल माना है। वे कहते भी हैं—

ई रस रसिक विनोदक बिंदक।
कबि विद्यापति गावे ।
काम प्रेम दुहु एक मत भए रहु।
करवने की न कराबे ।

और भी—

मधुर नटनगति भंग, मधुर नटिनी संग।
मधुर-मधुर रस गान, मधुर विद्यापति भान॥

शृंगार को रसराज कहा जाता है तथा अन्य सभी रसों में उसी को प्रधानता भी दी जाती है।[1] शृंगार का स्थायी भाव प्रेम है तथा विश्व के प्रायः सभी प्रसिद्ध कवियों ने प्रेमवर्णन किया है। सौंदर्य प्रेम का सहायक है और वही वास्तव में प्रेम की उत्पत्ति भी करता है। सौंदर्य मानव को ही नहीं पशुपक्षियों

---

१. 'शृगार प्रकाश' में लिखा भी है—

बीराद्भुतादिषु च ये ह रस प्रसिद्धिः
सिद्धाः कुतोऽपि वटयक्षवदाविभाति।
लोकेगतानुगतिकत्ववशादुदेता,
मेतां निर्वतयितुमेष परिश्रमो नः॥
शृंगारवीर करुणाद्भुतहास्य रौद्र—
बीभत्सवत्सल भयानक शांतनाम्नः।
आम्नासीषुर्दशरसान् सुधियो वयन्तु
शृंगारमेव रसनाद्रसमामनामः॥

तक को प्रभावित करने की क्षमता रखता है। कीट्स ने इसीलिए लिखा भी है—"Beauty is a thing which joy for ever." सौंदर्य वह पदार्थ है जो सर्वदा आनन्ददायिनी होता है।

इस प्रकार सौंदर्य और प्रेम काव्य के परम्परागत प्रधान विषय हैं। विद्यापति की पदावली में भी विशेष रूप से सौंदर्य और प्रेम का ही चित्रण किया गया है। विद्यापति ने प्राकृतिक सौंदर्य के प्रति उदासीनता ही प्रकट की है। और ऋतुओं का वर्णन भी केवल उद्दीपन की दृष्टि से ही किया है। वसन्त का जन्मोत्सव अवश्य कवि ने साँगरूपक की सहायता से कुशलता के साथ चित्रित किया है। मानव सौंदर्य का चित्रण करने में तो कवि को अप्रतिम सफलता प्राप्त हुई है। रूपकतिशयोक्ति के तो कई अत्युत्तम उदाहरण पदावली में दृष्टिगोचर होते हैं। महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री का तो मत है कि विद्यापति ने सौंदर्य की सृष्टि की है।

सद्यःस्नाता का वर्णन पदावली के कई पदों में किया गया है। वयःसंधि का वर्णन भी प्रशंसनीय है। नारी के अंग-प्रत्यंगों के वर्णन की ओर भी कवि की दृष्टि गई है। विद्यापति के सौंदर्य वर्णन में तुलसी की सी आध्यात्मिकता का पूर्ण विकसित स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं होता बल्कि उसमें भौतिकता की ही मात्रा विशेषरूप से पाई जाती है और ऐन्द्रियता की भी अधिकता है। नारी की सौकुमार्यता का भी चित्रण कवि ने किया है। एक स्थल पर विद्यापति लिखते हैं कि जहाँ जहाँ नारी चरण रखती है वहीं वहीं कमल झर उठते हैं; चरणों की छाप ऐसी प्रतीत होती है मानों कमल हों। जहाँ जहाँ अंग झलकते वहीं वहीं विद्युत की तरंग सी उठती है—

जहाँ-जहाँ पग जुग धरइ।
तहि-तहि सरोरुह, झरइ॥

जहाँ-जहाँ झलकत अंग ।
तहिं-तहिं विजुरि तरंग ॥

सौंदर्य वर्णन के सदृश्य ही कवि को प्रेम वर्णन में भी पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। श्री परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में—"प्रेम को विद्यापति, रूपासक्ति के रूप में, देखते जान पड़ते हैं जिसमें प्रेमास्पद का सौंदर्य प्रेमी के हृदय में, उसकी आँखों के माध्यम से प्रवेश पाता है और उसमें पहुँचते ही उसके सारे शरीर को अपनी ओर पूर्णतः आकृष्ट कर लेता है।"[१] हृद्‌गत मनोभावनाओं को कहीं साकार रूप में ही कवि ने प्रस्तुत कर दिया है जिससे कि उसकी भावाभिव्यक्ति की निपुणता प्रकट होती है। यह अवश्य है कि कवि ने जयदेव, अमरूक, गोवर्धनाचार्य, कालिदास तथा माघ आदि संस्कृत कवियों के भावों को भी अपनाया है परन्तु नूतन नूतन कल्पनाओं की उद्भावना भी पदावली में है। संयोग और विरह दोनों का ही हृदय स्पर्शी चित्रण गीतगोविन्द में किया गया है। वियोगिनी का जब प्रियतम से संयोग होता है तब वह फूली नहीं समाती और उसका मनमयूर प्रफुलिल्त हो नृत्य करने लग जाता है। वह कहती है—

आजु हम गेह गेह करि मानतु, आजु मोर देह भले देहा।
आज बिही मोर अनुकूल होएल, टुटल सबहु संदेहा ॥
सोई कोकिल अब लाखहि डाकउ, लाख उदय करु चंदा।
पाँच बान अब लाख बान हनु, मलय पवन बहु मंदा ॥

विरहव्यथित नायिका की मनोभावनाएँ भी कवि ने कुशलता के साथ चित्रित की हैं। विद्यापति का विरहवर्णन ऊहात्मक नहीं है बल्कि उसमें स्वाभाविकता भी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि डा० सूर्यकांत शास्त्री ने उचित ही लिखा है—

---

१. दे०—हिंदी काव्य धारा में प्रेम-प्रवाह (पृष्ठ ४०)

"विद्यापति के गीत सौंदर्य के सार हैं और ऐन्द्रिय प्रेम के ललित प्रसून हैं।"[१]

श्रृंगार रस का वर्णन करना अनुचित नहीं माना जाता किंतु श्रृंगार की ओट में अश्लीलता का प्रचार करना किसी भी भाँति उचित नहीं है। अश्लीलता से पूर्ण कविताओं का सृजन कविता के मूल पर कुठाराघात करना है। मम्मट ने भी इसीलिए लिखा है कि उत्तम देवताओं का संभोग श्रृंगार वर्णन करना उसी प्रकार अनुचित है जिस प्रकार माता का संभोग श्रृंगार वर्णन उचित नहीं माना जाता—"रतिः संभोग श्रृंगार-रूपा उत्तम देवताविषयान वर्णनीया, तद्वर्णन हि पित्रोः संभोग वर्णन भिवात्यमनुचितम्।" कला की दृष्टि से उत्कृष्ट होते हुए भी जयदेव का 'गीतगोविन्द' वासना मूलक गीतों से रहित नहीं है। इसी प्रकार विद्यापति की पदावली में भी वासना मूलक कुरुचि उत्पादक पदों की न्यूनता नहीं है। राधा और कृष्ण का सौंदर्य और प्रेम वर्णन करते समय कवि ने कहीं कहीं अश्लीलता पूर्ण सूक्तियाँ ही प्रस्तुत की हैं। कृष्ण-काव्य की परम्परा में जो आगे चलकर निरे वासना मूलक चित्रों की ही बहुलता देख पड़ने लगी उसके लिए 'पदावली' के अधिकांश पद ही उत्तरदायी हैं। क्योंकि अश्लीलता का बीजारोपण-पदावली में ही हुआ है और आगे चलकर रीतिकाल में वे ही पल्लवित हुए हैं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि विद्यापति स्वयं विलासी और कामी थे। पं. चन्द्रबली पांडे के शब्दों में—"स्मरण रहे, विद्यापति काम, कला और रस के पथिक हैं कुछ विषयवासना और भोग-विलास के नट नहीं।"[२] साथ ही हिंदी साहित्य में कृष्ण काव्य की परम्परा के आदि कवि होते हुए भी वे शैवावलम्बी ही माने जाते हैं यद्यपि

---

१. दे०—हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास (पृष्ठ१३८)
२. दे०—हिंदी कवि चर्चा (पृष्ठ ३२)

राधाकृष्ण विषयक कविताएँ ही उन्होंने अत्यधिक संख्या में लिखी हैं। आचार्य शुक्ल जी ने भी लिखा है—"विद्यापति शैव थे। उन्होंने इन पदों की रचना शृंगार काव्य की दृष्टि से की है, भक्त के रूप में नहीं। विद्यापति को कृष्ण भक्तों की परम्परा में नहीं समझना चाहिए।"[१]

भावपक्ष और कला पक्ष दोनों की दृष्टि से पदावली का हिंदी साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान है। विद्यापति को आशातीत लोकप्रियता भी प्राप्त हुई है और उनकी काव्य माधुरी तथा सुललित भाषा पर मुग्ध होकर उन्हें अभिनव जयदेव, सुकवि कंठहार, कवि शेखर और कवि-रंजन जैसी उपाधियाँ प्रदान की गई हैं। विद्यापति ने पदावली में लोक जीवन को अपनाया है और उनकी इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप उनके अनेक पद लोक-गीतों के रूप में प्रचलित हो गए हैं। 'बंग भाषाओ साहित्य' में श्री दिनेशचन्द्र सेन ने लिखा है कि गोविन्ददास की पदावली सुनकर श्रोता मुग्ध हो जाते हैं और अर्थ जानने की पीछे इच्छा होती है। इसी ग्रंथ में आगे चलकर वे लिखते हैं कि गोविन्ददास के आदर्श विद्यापति थे। गोविन्ददास ने स्वयं भी विद्यापति के प्रति आदर व्यक्त करते हुए लिखा है—

कवि पति विद्यापति मतिमान।
जाक गीतजग चित चोरायल गोविंद गौरि सरस रस गान।
भुवने छबि जत भारती बानि।
ताकर सार सार-पद संचए बांधल गीत कतहुँ परिमानि॥
आनन्दे नारद ने धरि थेहा।
से आनन्द रस जग भरि बरिसल सुखमय विद्यापति रस मेहा।
जत जत, रसपद कए लन्हि बन्धे।
कोटिहि श्रवण फल पाइये सुनइत आनन्द लागल धन्धे॥

---

१. हिंदी साहित्य का इतिहास (पृष्ठ ५७)

३. कबीर का गीति-काव्य

"संतवाणी किसी भी राष्ट्र की सर्वश्रेष्ठ पूँजी है। वह वाणी का विलास नहीं, किन्तु जीवन का निचोड़ है, इसीलिए वह जीवित और अमर होती है। संतवाणी वही स्वर्गीय गंगा है, जिसमें स्नान-पान करने से लोक-जीवन पवित्र, समृद्ध, समर्थ और स्वतंत्र हो जाता है।"

—आचार्य काका कालेलकर

बारहवीं सदी से लेकर सत्रहवीं सदी तक जो भक्ति वाद विकसित हो रहा था उसमें ईश्वर प्राप्ति के भिन्न भिन्न साधनों का समन्वय था। वज्रयानी सिद्धों और नाथ संप्रदाय के योगियों के प्रभाव से 'निर्गुण पंथ' का क्षेत्र निर्मित हो चुका था और उसे व्यवस्थित रूप से चलाने का श्रेय कबीर को मिला।[1] कबीर पर नाथ पंथ का स्वाभाविक ही प्रभाव पड़ा है बल्कि यह कहना कि नाथ पंथ से ही प्रेरणा पाकर कबीर के सिद्धान्त निर्मित हुए हैं कुछ अनुचित न होगा। सिद्धों की भाँति जाति पाँति, तीर्थाटन, मूर्ति पूजा और बहुदेवोपासना के विषय में उन्होंने उपेक्षा प्रदर्शित की है तथा रहस्यवादी बन कर रूपकों के सहारे पहेलियाँ बुझाने का प्रयास किया है। वे ईश्वर के कट्टर भक्त थे और भक्ति की प्रेरणा

१. दे० हिंदी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृष्ठ ७७

उन्हें रामानंद से मिली थी। अपनी साधना के बल पर ही वे वज्रयानी सिद्धों और नाथ पंथियों से ऊँचा पद पा सके हैं। भक्तिकाल की निर्गुण धारा की ज्ञानाश्रयी शाखा के समुज्ज्वल रत्न कबीर ने हिंदू मुस्लिम एकता का भी प्रयास किया है तथा उपासना के क्षेत्र में पंडितों और मौलवियों दोनों को खरी खरी सुनाई है। उनकी भक्ति साधना पर विचार करते हुए आचार्य रामचंद्रजी शुक्ल ने लिखा है—"इस प्रकार उन्होंने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रगतिवाद का मेल करके अपना पंथ खड़ा किया। वास्तव में कबीर एक सच्चे भक्त थे और तुलसी के समान भक्तों की श्रेणी में उनका भी अपना विशिष्ट स्थान है।"[1]

कबीर धर्मगुरु थे और उनकी वाणियों में आध्यात्मिकता का स्त्रोत प्रवाहित हो रहा है। कबीर का उद्देश्य काव्य सृजन न होकर उपदेश देना था परन्तु यदि विचार पूर्वक उनकी कृतियों का अध्ययन किया जाय तो प्रतीत होगा कि कबीर में सत्कवि के लक्षण विद्यमान थे और यदि वे चाहते तो काव्यसौंदर्य के सर्वतोकृष्ट चित्र प्रस्तुत कर सकते थे। भक्ति साधना में रत कबीर के मानस से जो उद्गार निकले वे ही कबीर की काव्य कला के द्योतक हैं और इस प्रकार उन्हें उच्चकोटि का कवि मानना अनुचित न होगा। श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर ने उन्हें सत्कवि मानकर उनके बहुत से पदों का अँगरेजी में अनुवाद किया है और ये पद कबीर की उच्चकोटि की काव्य-प्रतिभा का परिचय देते हैं। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि कबीर दास के नाम पर जो रचनाएँ कही जाती हैं उनका कुछ हिसाब ही नहीं है। कबीर पंथियों का कहना है कि सद्गुरु अर्थात् कबीरदास की वाणी अनन्त है।

---

१. दे०—हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—पृष्ठ ७७

स्व० रामदास गौड़ ने अपनी पुस्तक 'हिंदुत्व' में ७१ पुस्तकों की एक लंबी सूची दी है [1] और डॉ० रामकुमार वर्मा ने खोज की रिपोर्टों के आधार पर ६१ पुस्तकों की सूची प्रस्तुत की है।[2] बम्बई के वेंकटेश्वर प्रेस ने 'बोधसागर' नाम से ११ जिल्दों में कबीरदास के ग्रंथों का संग्रह छापा है परन्तु इन समस्त ग्रंथों में प्रमाणिक कितने हैं यह कहना सरल नहीं है। कबीर के उपदेश मौखिक ही थे क्योंकि उन्होंने स्वयं लिखा है 'मसि कागद छूवो नहीं, कलम गहौ नहिं हाथ।' उनके शिष्यों ने ही इन उपदेशों को संग्रहित किया होगा अतः इनमें से अधिकांश तो कबीर की कृतियाँ हो नहीं सकतीं और बहुत कुछ तो विकृत भी कर डाली गई होंगी। स्वयं 'बीजक' के विषय में ही प्रचलित है कि बीजक को लेकर भगवानदास नामक शिष्य भाग गया था और उसने उसे विकृत भी कर डाला था। डाक्टर श्यामसुन्दर दास ने संवत १५६१ की लिखी हुई एक हस्तलिखित पुरानी पोथी को प्रकाशित कर उसे ही कबीर की प्रमाणिक कृति माना है और डा० रामकुमार वर्मा 'गुरुग्रन्थ साहिब' में अवतरित कबीर के वचनों को ही प्रमाणिक मानते हैं परन्तु पं० चन्द्रबली पाँडे ने अकाट्य तर्कों के आधार पर सिद्ध कर दिया है कि उनमें भी कबीर के काव्य का शुद्ध रूप दृष्टिगोचर नहीं होता।[3]

कबीर के काव्य को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है। (१) नीति संबंधी (२) ज्ञानोपदेश और सिद्धांत संबंधी (३) आत्म निवेदन और भगवत्प्रेम संबंधी तथा (४) वर्णन संबंधी। यद्यपि कबीर ने विशेष रूप से दोहों में ही अधिकतर रचनायें की हैं और नीतिसंबंधी उनकी साखियाँ सर्वसाधारण में तो

---

१. दे० हिंदुत्व—स्व. रामदास गौड़ पृष्ठ ७३४

२. दे० हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास डा. रामकुमार वर्मा

३. हिंदी कवि चर्चा—श्री चंद्र बली पांडे पृष्ठ ६७-७३

अत्याधिक प्रचलित भी हैं परन्तु उन्होंने पदों को भी अपनाया है और इस प्रकार हिंदी गीति काव्य को अलंकृत करने का श्रेय भी उन्हें देना चाहिए। ज्ञानोपदेश और सिद्धांत संबंधी रचनाओं में कवित्व कम है परन्तु उनमें कबीर पंथ का परिचय अवश्य मिलता है। वर्णन संबंधी पद भी इसी प्रकार के हैं।

कबीर एक सच्चे भक्त थे और भगवत् साधना ही उनका उद्देश्य था। रामानंद जी के प्रधान उपदेश 'अनन्य भक्ति' को उन्होंने स्वीकार किया था और इस प्रकार वे 'राम' के अनन्य भक्त हो गए। परन्तु कबीर के राम पुराणों में वर्णित राम नहीं थे। डा० हजारी प्रसाद जी द्विवेदी के शब्दों में—"इसी त्रिगुणातीत, द्वैता-द्वैत विलक्षण, भावाभावविनिर्मुक्त, अलख, अगोचर, अगम्य, प्रेमपारावार भगवान को कबीर दास ने 'निर्गुण राम' कहकर संबोधन किया है। वह समस्त ज्ञानतत्त्वों से भिन्न है फिर भी सर्वमय है। वह अनुभववैकम्य है—केवल अनुभव से ही जाना जा सकता है।" डा० भागीरथ मिश्र ने भी लिखा है—"कबीर के 'निर्गुण राम' परम [1] तत्व के रूप में ही हैं। हम उन्हें किसी मूर्ति में सीमित नहीं कर सकते। वे घट-घट में, जड़-चेतन में, लोक-लोक में व्याप्त हैं।" [2] कबीर अवतारों पर विश्वास नहीं करता। उनका कहना है कि यह बात कि ईश्वर अवतार लेता है और भक्तों का दुख दूर करता है, सत्य नहीं है। वे इसे ईश्वर की माया मात्र मानते हैं। देखिए—

सन्तो आवै जाय सो माया।
हैं प्रतिपाल काल नहिं वाके ना कहुँ गया न आया।

---

१. कबीर—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी —पृष्ठ १२६
२. अध्ययन—डा०भगीरथ मिश्र —पृष्ठ ८५

वे कर्ता न वराह कहावैं धरणि धरैं नहिं भारा।
ई सब काम साहेब के नाहीं झूठ गहे संसारा॥
सिरजन हार न ब्याही सीता, जल परवान नहिं बंधा।
वे रघुनाथ एक कै सुमिरै, जो सुमिरै सो अंधा॥
दस अवताह ईश्वर की माया, कर्ता कै जिन पूजा।
कहैं कबीर सुनौ हो संतो उपजे, उपजे खपै सो दूजा॥

कबीर ने राम और रहीम दोनों को एक ही माना है। 'तुरकी धरम बहुत हम खोजा' के अनुसार इस्लाम धर्म का उन्हें पर्याप्त ज्ञान था और मुसलमानों की क्रूरता और हिंसा के कारण वे उनका उपहास भी करते रहे हैं। कबीर पंथ में हिंदू और मुसलमान दोनों ही थे तथा कबीर ने हिन्दू और मुसलमानों में एकता कराने का प्रयास भी किया है। कबीर का कहना है—

अरे भाइ दोइ कहाँ से मोंहि बतावो ?
विचिही भरम का भेद लगावो।
जोनि उपाइ रची द्वै धरनीं, दीन एक बीच भई करनीं॥
राम-रहीम जपत सुधि गई, उनि माला उनि तसवीलई॥
कहै कबीर चेत रे भोंदू, बोल निहारा तुरुक न हिंदू॥

कबीर पर सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद का भी प्रभाव पड़ा है। सूफियों के सदृश्य इन्होंने भी प्रेम साधना को अपनाया है। कबीर की भक्ति साधना प्रेम साधना के सदृश्य है। भक्त रूपी प्रिया भगवान रूपी प्रेमी पर आसक्त है और अपना तन मन सब कुछ अपने प्रेमी पर न्यौछावर कर चुकी है। फागुन की ऋतु समीप है, भक्त व्यथित होकर सोचता है कि क्या उसका प्रियतम पुनः उस पर रंग डालने की कृपा करेगा ? क्या प्रियतम के समीप तक पहुँचने का पुनः अवसर मिलेगा ? उनका भाग्य कहाँ तक सराहा जाय जिन्हें कि उस फागलीला का आनंद एक बार प्राप्त

होचुका है। कबीर भी चूँकि इस आनन्द का अनुभव कर चुके हैं अतः इस फाग को साधारण फाग नहीं समझते बल्कि उनके शब्दों में तो यह एक 'अकथ कहानी' है और बहुत ही कम इस सुख का अनुभव कर पाते हैं—

ऋतु फागुन नियरानी हो,
कोई पिया से मिलावे ॥
सोई सुंदर जाकों पिया को ध्यान है,
सोई पिया की मनमानी ॥
खेलत फाग अंग नहिं मोड़े,
सतगुरु से लपटानी ।
इक इक सखियाँ खेल घर पहुँची,
इक इक कुल अरुझानी ।
इक इक नाम बिना बहकानी,
हो रहीं ऐंचातानी ॥
पिय को रूप कहाँ लगि बरनौं,
रूपहिं मांहि समानी ।
जो रँग रँगे सकल छबि छाके,
तन-मन सबहि भुलानी ॥
यों मत जाने यहि रे फाग है,
यह कछु अकथ-कहानी ।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो,
यह गति बिरले जानी ॥

कबीर के पदों में कहीं तो 'दुलहिनि' का मधुर उल्लास दृष्टिगोचर होता है और कहीं विरह व्यथित विरहिणी की पुकार। प्रेम की तन्मयता उनके पदों में कूट-कूट कर भरी हुई है और इस प्रकार के पदों में उच्च कोटि का काव्यत्व भी झलक उठता है। एक पद देखिए—

चलि चलि रे भँवरा कमल पास, भँवरी बोलै अति उदास ॥
तैं अनेक पुहुप कौ लियौ भोग, सुख न भयौ तब बढ़्यौ है रोग ॥
हौ नु कहत तोसूं बार बार, मैं सब बन सोह्यौ डार डार ॥
चिनां चारि सुरंग फूल, तिरहि देखि कहा रह्यौ है भूल ॥
या बनासपती में लागैगी आगि, तब तू जैहौ कहाँ भागि ॥
पुहुप पुराने भये सूक, तब भँवरहि लागी अधिक भूख ॥
उड़्यौ न जाहि बल गयौ है छूटि, तब भँवरी रूनी सीस कूटि ॥
दह दिसि जोवै मधुप राइ, तब भँवरी लै चली सिर चढ़ाइ ॥
कहै कबीर मन को सुभाव, राम भगति बिन जम कौ डाव ॥

इस प्रकार के सरस और रहस्यात्मक पदों की अधिकता सी है। अपने आत्मविश्वास का कितने सुंदर ढंग से कवि ने निम्नांकित पद में प्रस्तुत किया है—

झीनी झीनी बीनी चदरिया।

काहे कै ताना काहे कै भरनी, कौने तार से बीनी चदरिया।
इँगला पिंगला ताना भरनी, सुखमन तार से बीनी चदरिया ॥
आठ कँवल दल चरखा डोलै, पाँच तत्त्व गुन तीनी चदरिया ॥
सो चादर सुर-नर-मुनि ओढ़िन, ओढ़िकै मैली कीनी चदरिया ॥
दास कबीर जतन से ओढ़िन, ज्योंकै त्यों धर दीनी चदरिया ॥

कबीर की भाषा पर साहित्यक दृष्टि कोण से विचार करना कबीर के प्रति अन्याय करना है। कबीर ने अपना काव्य पाडित्य प्रदर्शन के हेतु न लिखा था वरन् वह तो उनके हृदय से निकले हुए उदगार के स्वरूप हैं। सिद्धों की रचनाओं पर ध्यान पूर्वक विचार करने से प्रतीत होता है कि उन्होंने जहाँ उपदेशों की भाषा पुरानी टकसाली हिंदी रखी है वहाँ उनके गीतों आदि की भाषा प्राचीन बिहारी या पूरबी बोली है। कबीर के पदों की भाषा ब्रज-भाषा ही है यद्यपि तत्कालीन पूरबी बोली का प्रभाव भी कहीं

कहीं स्पष्ट लक्षित होता है। यों तो काव्य में उस समय प्रधानतः ब्रजभाषा का ही प्रयोग होता था और साथ ही चंद बरदाई के 'पृथ्वीराज रासो' में भी ब्रजभाषा की झलक देख पड़ती है। कबीर ने भी कहीं-कहीं सूर के सदृश्य ही सुमधुर ब्रजभाषा में रचना की है। ब्रजवाणी का माधुर्य्य से परिप्लावित यह उदाहरण देखिए–

हौं वलि कब देखौंगी तोहि।

अहनिस आतुर दरसन-कारनि ऐसी व्यापी मोहि॥
नैन हमारे तुम्हकों चाहैं, रती न मानै हारि॥
बिरह अगिनि तन अधिक जरावै, ऐसी लेहु बिचारि॥
सुनहु हमारी दादि गोसाईं, अब जनि करहु अधीर॥
तुम धीरज, मैं आतुर, स्वामी, काँचै भाड़ै नीर॥
बहुत दिनन के बिछुरे माधौ, मन नहिं बाँधै धीर॥
देह छमाँ तुम मिलहु कृपा करि आरतिवंत कबीर॥

उपदेशक के होने के फलस्वरूप कबीर की 'बानियों' में भाषा के भिन्न भिन्न रूप दृष्टिगोचर होते हैं। फारसी शब्दों की तो बहुलता सी है कदाचित मुसलमानी कुल में पालन-पोषण होने से ऐसा हुआ हो। कबीर ने समस्त प्रचलित शब्दों को अपनाया है। कहीं तो संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य देख पड़ता है; कहीं ब्रजभाषा की मधुर निर्झरिणी प्रवाहित हो रही है; कहीं राजस्थानी सधुक्कड़ी भाषा देख पड़ती है और कहीं अरबी-फारसी के शब्द झलक उठते हैं। पदों में पूरबी प्रयोगों की भी अधिकता है और देहाती भाषा के शब्द भी स्पष्ट देख पड़ते हैं। पंजाबी शब्दों का भी अभाव नहीं है।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि भाषा सौंदर्य में कुछ न्यूनता आई हो। हमारी समझ में तो यही आता है सूर ने ब्रज-भाषा को जो सर्वमान्य साहित्यिक भाषा बनाने का प्रयास किया

था; कबीर ने उनके पूर्व ही यह प्रयत्न किया था परन्तु चूंकि उनका उद्देश्य काव्य-सृजन मात्र न था अतः वे इस प्रयास को पूर्ण न कर सके। डा० भगीरथ मिश्र का कथन है—"कबीर के विचार से कवि और विद्वान, कोई सामान्य व्यक्ति नहीं थे। ये दोनों ही मरे हुए व्यक्ति थे—क्योंकि अमर आत्मा की ज्योति जगाकर इन्होंने अपने को सजीव नहीं किया था। उनका स्पष्ट कथन है—

कवि कवीने कविता मुए।

तथा—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोइ।

(साखी)

इससे यही अर्थ निकलता है कविता के विषय में उनकी एक अपनी धारणा थी। कबीर, उक्ति वैचित्र्य, अलंकार, कल्पना की उड़ान, झूठी और अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन को ही कविता समझते थे। यदि किसी कथन में केवल मनोरंजन है, शब्द चमत्कार है, सार नहीं तो कबीर की दृष्टि में उसका महत्व नहीं।"[1]

कबीर की वाणी में स्वाभाविक ही अलंकार घुलमिल से गए हैं और शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों दोनों की अधिकता सी है। लोकोक्तियों, मुहावरों और कहावतों का भी उन्होंने प्रयोग किया है। 'मिश्रबंधु' लिखते हैं—"इन्होंने ऐसी विलक्षण रचना की है कि इनके सैकड़ों पद कहावतों के रूप में आज सब छोटे बड़ों की जिह्वा पर है।"[2] व्यंग्य के सरस-सुमधुर उदाहरण भी उनकी कृतियों में दृष्टिगोचर होते हैं। पंडितों और मौलवियों को जो उन्होंने खरी खरी बातें सुनाई हैं उनमें व्यंग्य की छटा देखते ही बनती है।

---

१. अध्ययन—डा० भागीरथ मिश्र— पृष्ठ २१—२२

२. हिंदी नवरत्न—मिश्र बन्धु— पृष्ठ ४७६

व्याकरण की दृष्टि से कबीर की भाषा अवश्य अशुद्ध कही जा सकती है क्योंकि शब्दों को विकृत करने के साथ साथ उनके कारक चिह्नों में भी अशुद्धियाँ हैं 'से' 'कै' 'सन' 'कर' आदि अवधी के तथा राजस्थानी के 'थै' को उन्होंने अपनाया है। कला पक्ष की दूसरी न्यूनता कि छंदोभंग की भी अशुद्धियाँ हैं। हो सकता ये त्रुटियाँ प्रतिलिपिकारों के द्वारा हुई हों क्योंकि कबीर ने स्वयं तो अपने करों से कभी कलम स्पर्श तक नहीं की थी। अतः कबीर की भाषा पर हिंदी साहित्य को इस दृष्टिकोण से अवश्य ही गर्व करना चाहिए कि हिंदी जब अपनी प्रारंभिक अवस्था में थी उस समय कबीर का प्रादुर्भाव हुआ और उन्होंने हिंदी साहित्यको विकसित करने में महत्वपूर्ण योग दिया। डा० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने कबीर की भाषा के विषय में उचित ही लिखा है—"भाषा पर कबीर का जबर्दस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है उसे उसी रूप में कहलवा लिया है—बन गया है तो सीधे-सीधे नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कबीर के सामने लाचार सी नजर आती है। उसमें मानो ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को नाहीं कर सके। और अकह कहानी को रूप देकर मनोग्राही बना देने की तो जैसी ताकत कबीर की भाषा में है वैसी बहुत कम लेखकों में पाई जाती है।"[१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर के गीति काव्य का भाव-पक्ष और कलापक्ष दोनों ही निखरा हुआ है। कबीर और जोगीड़ा में जो हमें अश्लीलता दृष्टिगोचर होती है उसका मूल कारण यह है कि हम लोग स्वयं सहज यानियों की 'संध्या भाषा' का

---

१. दे०—कबीर—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी (पृष्ठ १२६)

अर्थ समझ नहीं पाते हैं अतः 'कबीर' में अश्लीलता समझना भूल ही है। 'मिश्रबंधु' ने कबीर के प्रति उचित ही लिखा है— "इन्होंने खरी बातें बहुत उत्तम और साफ साफ कही हैं, और इनकी कविता में हर जगह सचाई की झलक देख पड़ती है। इनके-से बेधड़क कहने वाले कवि बहुत कम देखने में आते हैं। कबीर जी का अनुभव बहुत बढ़ा-चढ़ा था, और दृष्टि अत्यंत पैनी थी।"[१]

---

१. मिश्रबंधु विनोद— मिश्र बंधु—

४. जायसी की रस-व्यंजना

प्राचीन आचार्यों ने विषयानंद, ब्रह्मानंद और रसानंद नामक तीन प्रकार के आनंद माने हैं। ब्रह्म को तो सच्चिदानंद ही कहा जाता है; क्योंकि वह स्वयं ही आनन्द रूप है उसी आनंदमय ब्रह्म से प्राणियों की उत्पत्ति होती है, विकास होता है तथा अंत में वे उसी में विलीन भी हो जाते हैं—

आनन्दादेव खल्विमनि भूतानि जायन्ते।
आनंदेन जातानि जीवन्ति।
आनंदे प्रत्यन्यभि संविशन्तीति,
आनंदो ब्रह्मेति व्यजानात्॥

—तैत्तिरीय उपनिषद्, ३।६।१

आनन्द की सर्वोच्चतम कोटि ब्रह्मानन्द है जिसके अंतर्गत विश्व के समस्त आनन्द एकत्र हो जाते हैं। इस आनन्दमय ब्रह्म द्वारा ही विश्व की समस्त वस्तुओं में आनन्द प्रविष्ट होता है। विषयानंद, ब्रह्मानंद तथा रसानंद में विषयानंद को तो सबसे हीन समझा जाता है तथा शेष दोनों की उपादेयता तो निर्विकार रूप से स्वीकार की जाती है। विषयानंद की अपेक्षा रसानंद को तो सर्वदा ही सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है क्योंकि विषयानंद लौकिक ही है यद्यपि रसानंद अलौकिक माना जाता है। रस को भट्टनायक ने 'ब्रह्मानंद सचिवः' तथा विश्वनाथ ने 'ब्रह्मानंद सहोदरः' लिखकर

ब्रह्मानंद और रसानंद में सम्बन्ध सा माना है। वास्तविकता तो यह है कि अखिल जगत में व्याप्त ब्रह्म को ही लक्ष्यकर तैत्तिरीय श्रुति में कहा गया है—"रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति" अर्थात् ब्रह्म रस रूप है और रस को प्राप्त करके ही विश्व के प्राणी आनन्द पाते हैं। इस प्रकार रसात्मक ब्रह्म ही विश्व के प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त है तथा जगत् का प्रत्येक पदार्थ रसात्मक ही है। इस प्रकार रस को काव्य की आत्मा मानकर आचार्यों ने उचित ही किया है। महामुनि भरत ने तो 'नाट्यशास्त्र' में स्पष्ट ही लिखा है कि जिस प्रकार से बीज से वृक्ष होता है, वृक्ष से पुष्प तथा पुष्प से फल होते हैं उसी प्रकार रस को ही काव्य का मूल समझना चाहिए; साथ ही उसी के द्वारा भावों का संगुफन भी होता है। देखिए—

> यथाबीजाद् भवेद् वृक्षो वृक्षात् पुष्पं फलं यथा।
> तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवास्थित्ः॥
>
> —नाट्यशास्त्र

नाट्यशास्त्र के इन विचारों का 'अभिनव भारती' में अभिनव गुप्त ने समर्थन भी किया है—

"एवं मूलबीज स्थानीयात् कविगतो रसः। कविहि सामाजिक तुल्य एव। तत एवोक्तं 'शृंगारी चेत् कविरित्यादि' आनन्द वर्धनाचार्येण। ततो वृक्षस्थानीयं काव्यम्। तत् पुष्पादिस्थानीयो ऽभिनयादिनंद व्यापारः। तत्र फल स्थानीयः सामाजिक रसास्वादः। तेन रसमयमेव। विश्वम्।"

—अभिनव भारती पृष्ट २९५

इस प्रकार अभिनव गुप्त ने भी कविगत रस को मूल बीज के सदृश्य माना है तथा समग्र विश्व में रस की प्रतिष्ठा स्वीकार की है। अतएव प्रत्येक काव्यग्रंथ या कविता में रस का प्रवाहित

होना परमावश्यक है। भावों की महानता को हम भी स्वीकार करते हैं किन्तु जैसा कि महामुनि भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में लिखा है—रस के बिना भाव नहीं और भाव के बिना रस नहीं। वास्तव में रस और भावों की सिद्धि एक दूसरे पर ही निर्भर है। देखिए—

न भावहीनोस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
परस्परकृता सिद्धिरनयो रसभावयोः॥

भक्ति कालीन काव्य धारा में मलिक मुहम्मद जायसी का विशिष्ठ स्थान है और प्रेमाख्यानक काव्यों में तो उनकी कृति 'पद्मावत' श्रेष्ठतम मानी जाती है। 'पद्मावत' हिंदी के सर्वोत्तम काव्य ग्रंथों में से है तथा प्रेमतत्व के निरूपण की दृष्टि से उसका स्थान बहुत ऊँचा माना जाता है और जायसी को हिंदी साहित्य का एक समुज्जवल रत्न समझा जाता है।

'पद्मावत' में जायसी ने यद्यपि आवश्यकतानुसार समस्त रसों की अभिव्यंजना की है किन्तु उसमें शृंगार रस की प्रधानता विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है और वस्तुतः वह शृंगार रस प्रधान काव्य ही है। शृंगार रस को तो साहित्य में सर्वदा ही सर्वाधिक महत्व दिया जाता रहा है तथा महामुनि भरत ने तो 'यत्किञ्चिल्लोके शुचिमेध्यमुज्जवलं दर्शनीयं वा तच्छृङ्गारेणोपनीयते' लिखकर जगत् में जो कुछ उत्तम, उज्जवल तथा दर्शनीय है उसे ही शृंगार माना है। 'साहित्यदर्पण' में विश्वनाथ ने कामोद्रेक को ही शृंगार की उत्पत्ति का कारण माना है—

शृङ्ग हि मन्मथोद्भेदस्तदागमन हेतुकः।
उत्तम-प्रकृति प्रायो रसः शृंगार इष्यते॥

शृंगार रस के आलम्बन नायक-नायिका हैं; सखी, दूती, मंडन, परिहास आदि अथवा षट्ऋतु, वन, उपवन, सरोवर, चन्द्र आदि उद्दीपन विभाव हैं; अनुभाव अनुराग पूर्ण भृकुटि भंग, हावभाव,

रोमांच और स्वेद हैं तथा स्थायी भाव रति है। "रतिर्मनोकूलेऽर्थे मनसः प्रवणयितम्" के अनुसार मनोनुकूल वस्तु में सुख प्राप्त होने का ज्ञान अथवा प्रिय वस्तुओं के प्रति चित्त के आकर्षित होने का भाव ही रति कहलाता है और यही नायक तथा नायिका में परस्पर अनुराग भी बढ़ाता है।

शृंगार के संयोग और वियोग नामक दो भेद किए जाते हैं। संयोग शृंगार में नायक-नायिका की संयोगावस्था का चित्रण किया जाता है और वह सुखात्मक ही होता है। रूपवर्णन, हाव चित्रण, उपवन, उद्यान, सरोवर आदि के क्रीड़ा विलास, परिहास विनोद आदि का भी इसमें चित्रण किया जाता है। वियोग शृंगार स्वाभाविक ही दुःखात्मक होता है क्योंकि उसमें प्रेमी-प्रेमिका के विच्छेद का चित्रण रहता है। वियोग शृंगार के जिसे कि विप्रलंभ शृंगार भी कहते हैं पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण नामक चार भेद माने जाते हैं। पूर्वराग में संयोग से उत्पन्न होने वाली प्रेम पूर्ण आकुलता का चित्रण होता है। मान में नायक या नायिका के रूठने का वर्णन किया जाता है यद्यपि हिंदी कवियों ने विशेष रूप से नायिका के ही रूठने का चित्रण किया है। प्रवास में नायक के विदेश गमन का तथा करुण में किसी प्रबल व्यवधान के फलस्वरूप संयोग की आशा के क्षीण प्रायः हो जाने अथवा नष्ट प्रायः हो जाने का वर्णन किया जाता है।

जायसी ने 'पद्मावत' में संयोग और वियोग दोनों प्रकार के शृंगारों का वर्णन किया है। रत्नसेन नागमती और रत्नसेन पद्मावती नामक दो युग्मों का अवलम्ब लेकर कवि ने संयोग के रसपूर्ण चित्र अंकित किए हैं। रत्नसेन नागमती के संयोग का वर्णन तो केवल एक ही स्थान पर किया गया है किन्तु पद्मावती और रत्नसेन के समागम का चित्रण विस्तार के साथ किया गया है। यह स्मरण रखना चाहिए कि रत्नसेन ने पद्मावती को प्राप्त

करने के हेतु न केवल अपना राज्य त्याग दिया था बल्कि प्रसन्नता के साथ शूली पर चढ़ना भी अंगीकार कर लिया था और पद्मावती ने भी स्पष्ट रूप से कहा था—

जियै तौ जियौं मरौं एक साथा।

इस प्रकार के प्रेम में विभोर रहने वाले नायक नायिका का सुखद सम्मिलन ही कवि ने अंकित किया है। संयोग वर्णन करते समय कवि ने प्रारम्भ में उन परिस्थितियों का भी चित्रण किया है जिनसे रसव्यंजना में सहायता मिलती है तथा नायिका का रूप वर्णन भी किया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि 'सोलह शृंगार' और 'बारह आभरण' के वर्णन से रसरंग प्रवाह में बाधा नहीं पड़ती किन्तु जायसी ने जो कहीं कहीं वस्तुओं की गणना की है उससे पाठकों को खिन्नता होने लगती है। कवि ने प्रथम समागम के समय नायक नायिका के मध्य कुछ वाक् चातुर्य और परिहास की झलक भी प्रस्तुत की है। इस प्रकार के प्रसंग तो हिंदी कवियों की शृंगार पद्धति में परम्परा से चले आ रहे हैं। यद्यपि जायसी ने संयोग शृंगार में अभिसार का भी वर्णन किया है तथा कुछ पंक्तियाँ अश्लीला भी हो गई हैं किन्तु प्रायः प्रेम का भावात्मक स्वरूप का ही चित्रण 'पद्मावत' में यत्रतत्र दृष्टिगोचर होता है। प्रथम समागम के अवसर पर जब पद्मावती रत्नसेन से पूँछती है कि उसने जंबूद्वीप में रहते हुए भी सिंहल में उसका पता कैसे जान लिया—

पै तूँ जंबूदीप बसेरा।
किमि जानेसि कस सिंघल मेरा॥

तब रत्नसेन उसे अपनी सम्पूर्ण कथा सुनाता है और पद्मावती के प्रति अपनी हृदयानुराग की झलक दिखाता है। प्रथम समागम के अवसर पर इस प्रकार का वार्तालाप स्वाभाविक ही

जान पड़ता है और इस प्रकार की बातों के मध्य प्रणय के सात्विक भाव से उद्दीप्त हो दोनों एक दूसरे के बाहुपाश में आबद्ध हो जाते हैं—

कहि सतभाव भई कँठलागू ।
जनु कंचन औ मिला सोहागू ।।

यहीं से जायसी ने संयोग शृंगार का विस्तृत वर्णन किया है जिसमें स्वाभाविकता और सुमधुरता का समावेश हो सका है। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

चतुर नारि चित अधिक चिहूँटी । जहाँ प्रेम बाढ़ै किमि छूटी ।।
कुरला काम केरि मनुहारी । कुरला जेहि नहिं सो न सुनारी ।।
कुरलहि होइ कंत कर तोखू । कुरलहि किए पाव धनि मोखू ।।
जेहि कुरला सो सोहाग सुभागी । चंदन जैस साम कँठ लागी ।।
दारिऊँ, दाख, बेल रस चाखा । पिय के खेल धनि जीवन राखा ।।
भएउ बसंत कली मुख खोली । बैन सोहावन कोकिल बोली ।।

जायसी ने षट्ऋतु वर्णन के अंतर्गत भी संयोग शृंगार के चित्र प्रस्तुत किए हैं तथा प्रत्येक ऋतु का प्रभाव पद्मावती एवं रत्नसेन पर दिखलाया है। किन्तु इस प्रकार के वर्णनों में न तो प्रकृति का ही मनोमुग्धकारी चित्र प्रस्तुत किया जा सका और न संयोगियों की हृदगत भावनाओं को ही अंकित किया जा सका है। लक्ष्मी समुद्र खंड तथा चित्तौर आगमन खंड में भी रत्नसेन पद्मावती को आलम्बन मानकर संयोग शृंगार के चित्र प्रस्तुत किए गए हैं। संयोग के इन विविध प्रसंगों में शृंगार रस का संनिवेश अवश्य हो गया है किन्तु हृदयस्पर्शिता का कहीं कहीं अभाव भी देख पड़ता है।

रस की अनुभूति के लिए पार्थक्य और वियोग दोनों की आवश्यकता पड़ती है। वियोग के उपरान्त होनेवाला संयोग

स्वाभाविक हो आनन्द प्रद प्रतीत होता है। बिना विरह के मिलन में स्वाभाविकता भी नहीं रहती और प्रेमियों के जीवन में तो सुख और दुःख दोनों ही क्रमानुसार आते जाते रहते हैं—

मानव जीवन वेदी पर
परिणय है विरह मिलन का।
सुख दुख दोनों नाचेंगे,
है खेल आँख का, मन का॥

—आँसू

विप्रलम्भ के प्रति भारतीय कवियों ने जो आग्रह व्यक्त किया है उसका भी यही कारण है कि विरहावस्था में रसानुभूति की प्रबलता भी रहती है। अलकापुरी से यक्ष को निर्वासित किए बिना प्रेयसी से उसका सम्मिलन क्या स्वाभाविक और आनन्दपूर्ण माना जा सकता है। कालिदास ने भी इसी लिये वियोग में रसानुभूति का महत्व स्वीकार करते हुए लिखा है—

स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा—
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति॥

—उत्तरमेघ, ५१ श्लोक

जायसी ने वियोग शृंगार का वर्णन विशेषरूप से किया है तथा नागमती-रत्नसेन और पद्मावती-रत्नसेन दोनों आलम्बनों का अवलम्ब लिया है। किन्तु नागमती वियोग खंड में नागमती के विरह का अत्यधिक हृदयस्पर्शी चित्रण किया गया है। यद्यपि कवि का विरह वर्णन कहीं-कहीं अत्युक्तिपूर्ण भी हो गया है तदपि उसमें गंभीरता भी देख पड़ती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में—"ऊहात्मक पद्धति का दो चार जगह व्यवहार चाहे जायसी ने किया हो पर अधिकतर विरहताप के वेदनात्मक स्वरूप की अत्यंत विशद व्यंजना ही जायसी की विशेषता है। इन्होंने अत्युक्ति की है

और खूब की है पर वह अधिकांश संवेदना के स्वरूप में हैं, परिणाम निर्देश के रूप में नहीं।"[1] कवि ने विरह ताप की मात्रा पर प्रकाश न डालकर वियोग के हृदयस्पर्शी प्रभावों का ही चित्रण किया है। विरहताप के प्रभाव की व्यापकता का चित्रण करते समय कहीं-कहीं कल्पित प्रसंगों की भी उद्‌भावना की गई है। नागमती के अश्रुओं से तो सम्पूर्ण सृष्टि ही सिंचित सी जान पड़ती हैं—

कुहुकि-कुहुकि जस कोइल रोई। रकत आँसु घुँघची बन बोई॥
जहँ-जहँ ठाढ़ि होइ बनबासी। तहँ-तहँ होइ घुँघचि कै रासी॥
बूंद-बूंद महँ जानहु जीऊ। गुंजा गूँजि करै "पिउ पीउ॥"
तेहि दुख भए परास निपाते। लोहू बूड़ि उठे होइ राते॥
राते बिंब भीजि तेहि लोहू। परवर पाक, फाट हिय गोहूँ॥

नागमती के विरह वर्णन के अंतर्गत कवि ने बारहमासा का भी वर्णन किया है जिसमें प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों के दिग्दर्शन के साथ साथ वेदना के विभिन्न रूपों और कारणों पर प्रकाश डाला गया है। रत्नसेन के लौटने की आशा होते हुए भी नागमती व्यथित ही रहती है तथा प्रकृति का उद्दीपन तो उसके लिए और भी असह्य हो उठा है। अपनी सखी को अपनी हृदय की दशा का चित्रण करते हुए उसने इस बारहमासे में होने वाली पीड़ा का मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। नागमती के विरहवर्णन में स्वाभाविकता और भावुकता का समावेश इसीलिये संभव हो सका है क्योंकि रानी नागमती ने विरहावस्था में अपने रानी पन को विस्मरण कर स्वयं को एक साधारण स्त्री के रूप में ही देखा है। सामान्य स्वाभाविक प्रवृत्तियों के कारण ही उसकी विरहवेदना सबको आकर्षित कर सकी है। इस प्रकार नागमती के विरह वर्णन की प्रशंसा करते हुए डा० कमल कुलश्रेष्ठ ने उचित ही लिखा है—"वेदना

---

१. देखिए—जायसी ग्रंथावली—पं० रामचन्द्र शुक्ल (भूमिका पृष्ठ)

का जितना निरीह, निरावरण, मार्मिक, गम्भीर, निर्मल एवं पावन स्वरूप इस विरह वर्णन में मिलता है उतना अन्यत्र दुर्लभ है।"[१]

यद्यपि जायसी ने पद्मावती का विरह वर्णन भी किया है परन्तु नागमती के विरह वर्णन की सी मार्मिकता और विशदता इसमें नहीं देख पड़ती। पूर्वराग के कुछ प्रसंग अवश्य सुन्दर बन पड़े हैं। प्रशंसा की बात है कि कवि ने रत्नसेन के विरह व्यथित मानस की सुकुमार भावनाओं का भी चित्रण किया है। वस्तुतः प्रेम में तो तुल्यानुराग का ही आदर्श स्वाभाविक माना जा सकता है और श्री मैथिलीशरण जी गुप्त की—

दोनों ओर प्रेम पलता है।
सखि पतंग तो जलता ही है, दीपक भी जलता है॥

नामक उक्ति के अनुसार तुल्यानुराग की भावना ही श्रेष्ठतम समझी जाती है। नायक नायिका परस्पर एक दूसरे के भावों का आलम्बन होते रहे हैं अतः दोनों के हृदय में एक दूसरे के प्रति प्रेम भावना रहना आवश्यकीय ही है। जायसी ने भी रत्नसेन के विरह का वर्णन कर तुल्यानुराग को ही प्रेम का आदर्श माना है। पद्मावती से विवाह होने के पूर्व तथा उपरान्त दोनों स्थलों पर कई ऐसे प्रसंग हैं जहाँ कि रत्नसेन की विरह पूर्ण मनोभावनाएँ चित्रित की गई हैं। इस प्रकार जायसी शृंगार रस के दोनों पक्षों का सफलता के साथ चित्रण कर सके हैं।

शृंगार रस के उपरान्त 'पद्मावत' में वीर रस की व्यंजना ही विशेष रूप से की गई है और कवि वीर रस के वर्णन में सफल भी रहा है। वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है तथा आचार्यों ने हमारे जीवन के व्यापारों के अंतर्गत आने वाले चार प्रमुख

---

१ दे०—मलिक मुहम्मद जायसी—डा० कमल कुलश्रेष्ठ

उत्साहों को काव्योपयोगी समझ युद्धवीर, दानवीर, दयावीर—तथा धर्मवीर नामक चार विभाग वीर रस के किए हैं। किन्तु यदि हम उत्साह को स्थायी मानकर और भी आगे विचार करें तो वीर रस के प्रतिज्ञा वीर तथा कर्मवीर नामक कुछ और भी विभाग हो सकते हैं। कुछ आचार्यों ने प्रतिज्ञावीर को धर्मवीर के अंतर्गत और कर्मवीर को युद्धवीर के अंतर्गत लेने की चेष्टा की है परन्तु यदि ऐसा किया जाता है तो फिर दानवीर और दयावीर को भी धर्मवीर के अंतर्गत मानना चाहिए। वास्तव में उत्साह के व्यापक क्षेत्र को सीमित कर देना उचित नहीं माना जा सकता।

जायसी ने तो वीर रस के अंतर्गत एक मात्र युद्धवीर का ही विशेष रूप से वर्णन किया है। युद्धवीर का आलम्बन विजेतव्य होता है तथा रौद्र रस का शत्रु और यदि ध्यान से देखा जाय तो दोनों में बड़ा ही सूक्ष्म अंतर जान पड़ता है। विजेतव्य तो वही होगा जो कि शत्रु होगा क्योंकि अनुकूल रहने वालों को भला कौन शत्रु समझ सकता है। इस प्रकार शत्रु और विजेतव्य में व्यवहारिक दृष्टि से कोई विशेष अंतर नहीं है। न तो बिना उत्साह के क्रोध ही होगा और न तो बिना क्रोध के उत्साह ही होगा। अतः स्वाभाविक ही युद्धवीर और रौद्ररस मिले जुले से रहते हैं। यह अवश्य है कि कवियों ने इन दोनों में सूक्ष्म अंतर रखने के हेतु युद्धवीर के अंतर्गत उत्साह के प्रबल प्रचंड वेग के साथ क्रोध को प्रायः सूक्ष्म स्थान दिया है और रौद्ररस के अंतर्गत क्रोध के व्यापक प्रभाव को चित्रित कर उत्साह को उसका सहायक मात्र माना है। जायसी ने यद्यपि वीरोचित उत्साह का प्रदर्शन कुशलता के साथ किया है किन्तु क्रोध के प्रसंगों की आवश्यकता होते हुए भी 'पद्मावत' में रौद्ररस की विशेष रूप से अभिव्यक्ति न हो सकी। राजा रत्नसेन को जब अलाउद्दीन का पत्र प्राप्त होता है तब क्रोधावेश की आवश्यकता होते हुए भी पत्र पढ़कर राजा

केवल कुछ उग्रवचन कहकर ही पत्र की औचित्यता-अनौचित्यता पर विचार करने लगता है—

> सुनि अस लिखा उठि जरि राजा। जानहु देव तड़पि घन गाजा ।।
> का मोहि सिंघ देखावसि आई। कहाँ तौ सारदूल धरि खाई ।।
> भलेहिं साह पुहुमीपति भारी। माँग न कोउ पुरुष कै नारी ।।

यह अवश्य है कि संचारी के रूप में अमर्ष तथा अनुभावों के रूप में उग्रवचन और क्रोध की झलक इस अवतरण में है किन्तु रौद्ररस का प्रभाव मंद ही जान पड़ता है। आचार्यों ने जो आत्मावदान कथन अर्थात् अपने मुँह से अपनी प्रशंसा वर्णन को रौद्ररस का अनुभाव—माना है उसको झलक भी 'पद्मावत' में है। किन्तु सब प्रकार से विचार करने पर यही जान पड़ता है कि जायसी के रौद्ररस वर्णन में न तो स्थायी भाव ही अपने पूर्ण रूप में प्रस्फुटित हुआ है और न अनुभावों तथा संचारियों की मात्रा ही पर्याप्तरूप में हैं। कदाचित जायसी का भावुक हृदय रौद्र रस की अभिव्यंजना के हेतु उपयुक्त न था।

'पद्मावत' में जिन युद्धों का वर्णन है उनमें से अलाउद्दीन एवं रत्नसेन, गोराबादल एवं अलाउद्दीन और रत्नसेन एवं देवपाल में होने वाले युद्ध विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये युद्ध ऐतिहासिक वर्णनात्मक शैली में ही वर्णित हैं तथा इनमें अमीर-उमरा एवं गढ़पति, घोड़े, हाथो, सैनिकों का आगे बढ़ना, अस्त्र शस्त्र आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। प्रबन्ध काव्य में वस्तुवर्णन द्वारा कविगण इतिवृत्तात्मक अंशों को भी सरस बना देते हैं। जायसी में भी वस्तु वर्णन की क्षमता विद्यमान थी और उन्होंने युद्धवर्णन में वस्तुवर्णन पर ही विशेष ध्यान दिया है। अलाउद्दीन की चढ़ाई का वर्णन यद्यपि परम्परागत ही है किन्तु उसमें रसाभिव्यक्ति विशेष रूप से हो सकी है। देखिए—

आवै डोलत सरग पतारा। काँपै धरनि, न अँगवै भारा ॥
टूटहिं परबत मेरु पहारा। होइ चकचून उड़हिं तेहि झारा ॥
सत खँड धरती होइ षटखंडा। ऊपर अष्ट भए बरम्हंडा ॥
इन्द्र आइ तिन्ह खंडन्ह छावा। चढ़ि सब कटक घोड़ दौरावा ॥
जेहि पथ चल ऐरावत हाथी। अबहुँ सो डगर गगन महँ आथी ॥
औ जहँ जामि रही वह धूरी। अबहुँ बसै सो हरिचँद-पूरी ॥
गगन छपान खेह तस छाई। सूरुज छपा रैन होइ आई ॥

बादशाह चढ़ाई खंड तथा राजा-बादशाह युद्ध खंड नामक अध्यायों में तो कवि ने चित्तौरगढ़ पर अलाउद्दीन के आक्रमण, सेना की सजावट और तैय्यारी तथा युद्ध आदि के घमासान वर्णन तक ही अपनी दृष्टि रखी है किन्तु युद्धोत्साह की व्यंजना उसने किसी भी व्यक्ति द्वारा नहीं कराई है। गोराबादल के प्रसंग में अवश्य उत्साह से परिपूर्ण उमंग देख पड़ती है। जायसी ने कहीं कहीं अतिशयोक्ति का अवलम्ब लेकर—

सहस सहस हस्तिन्ह कै पांती।
खींचहि रथ, डोलहिं नहिं माती ॥

जैसी पंक्तियाँ भी लिखी हैं तथा कहीं कहीं उपमा, दृष्टान्त एवं उत्प्रेक्षा के योग से युद्धवर्णन में सजीवता भी ला दी है किन्तु एक स्थल पर तोपों का स्त्री के रूपक में प्रस्तुत कर वीर और श्रृंगार का जो सम्मिश्रण प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है उससे रसाभास ही हुआ है।

युद्ध की भीषणता के मध्य जायसी ने कुछ वीभत्स दृश्यों को भी प्रस्तुत किया है यद्यपि इस प्रकार के वर्णन परम्परा गत ही हैं तथा उनमें न तो रसवर्णन की स्वाभाविकता ही है और न विभाव चित्रण की विशदता ही है। गोरा बादल युद्ध खंड की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

टूटहिं सीस, अधर धर मारै। लोटहिं कंधहि कंध निरारै।
कोई परहिं रुहिर होइ राते। कोई घायल घूमहिं माते॥
कोइ खुरखेह गए भरि भोगी। भसम चढ़ाय परे होइ जोगी॥

और भी—

लोटहिं सीस कबंध निनारे। माठ मजीठ जनहुँ रन ढारे॥
खेलि फाग सेंदुर छिरकावा। चाँचरि खेलि आगि जनु लावा॥
हस्ती छोड़ धाइ जो धूका। ताहि कीन्ह सो रुहिर भभूका॥

संस्कृत के प्रसिद्ध कवि भवभूति ने तो करुण रस को ही सर्वश्रेष्ठ रस माना है—

एको रसः करुण एक निमित्त भेदाद
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रायते विवर्तान्।
आवर्त-बुद्बुद्-तरंग भयान् विकास—
नम्भो यथा, सलिलमेव नु तत्समग्रम॥

'पद्मावत' में कुछ स्थलों पर तो कवि को कारुराय धारा प्रवाहित करने में विशेष रूप से सफलता प्राप्त हुई है। रत्न सेन जब योगी बनकर सिंहल के लिए प्रस्थान करता है तथा पद्मावती नागमती सती खंड नामक अध्याय में करुण रस की अत्याधिक हृदय स्पर्शी व्यंजना हुई है। राजा रत्नसेन के सिंहल प्रस्थान करते समय उसकी वृद्धा माता, नागमती तथा अन्य रानियाँ जो रोदन करती हैं उसमें स्वाभाविकता ही जान पड़ती है। विभाव, अनुभाव और संचारी भावों की पूर्णरूपेण व्यंजना से प्रसंग अत्यधिक कारुणिक जान पड़ता है।

रत्नसेन के निधन के उपरान्त कवि ने जिन कारुणिक दृश्यों का चित्रण किया है उनमें मार्मिकता के स्थान पर गंभीरता ही विशेष रूप से है। किन्तु कहीं-कहीं कुछ स्थल इतने करुणासिक्त हैं कि पाठकों के हृदय शोक से द्रवीभूत हो जाते हैं। नागमती

और पद्मावती के विलाप में तो करुण रस अपने चरम बिन्दु तक पहुँचा हुआ जान पड़ता है। देखिए—

जियत कंत तुम हम्ह गर लाई। मुए कंठ नहिं छेड़ब साईं ॥
और जो गांठि कन्त तुम जोरी। आदि अंत लहि जाइ नछोरी ॥
यह जग काह जो अर्थाहि न आथी। हम तुम, नाह दुहूँ जग साथी ॥

यद्यपि बहुत से विद्वानों ने तो शांत रस का तो अस्तित्व ही स्वीकार नहीं किया है किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि शांतरस की भी स्वतन्त्र सत्ता है और उसे भी रस मानना उचित ही है। पंडितराज जगन्नाथ ने 'रसगंगाधर' में लिखा भी है--

"यैरपि नाव्ये शाम्तो रसो नास्तीत्यभ्युपगम्यते तैरपि बाधका-भावान्महाभारतादि प्रबन्धनांशान्त रस प्रधानतया अखिल लोकानुभव सिद्धत्वा काव्ये सोड वश्यं स्वीकार्यः। अतएवाष्टौ नाट्य रसा इत्युचकाय शान्तोपि नवमोरस इति मम्मट भट्टा अत्युपसमर्हषिः।"

जायसी ने ईश्वर की वंदना करते हुए तथा उपदेश देते हुए शांतरस की भी व्यंजना की है। पद्मावत, अखरावट और आखिरी कलाम तीनों में शांतरस की विशदता है। ईश्वर पर अपना पूर्ण विश्वास व्यक्त करते हुए कवि कहता है—

कीन्हेसि सहस अठारह, बरन बरन उपराजि।
भुगुति दिहेसि पुनि सबन कहँ सकल साजना साजि ॥

इसी प्रकार उपदेश में भी कवि ने निर्वेद भावों की प्रधानता रखी है।—

का भूलौं एहि चंदन चोवा। बैरी जहाँ अंग कर रोवां ॥
हाथ पाव सरवन औ आँखी। ए सब उहाँ भरहिं मिलि साखी।
सूत सूत तन बोलहिं दोखू। कहु कैसे होइहि गति मोखू ॥

अद्भुत रस और भयानक रस की व्यंजना तो स्वतंत्र रूप से

प्रायः कहीं नहीं की गई है। वीररस या रौद्ररस की व्यंजना के समय अद्भुत रस की झलक अवश्य दृष्टिगोचर होती है। इसी प्रकार भयानक रस के प्रसंग भी सीमित संख्या में ही हैं। किल-किला समुद्र के वर्णन में स्वाभाविकता तो है ही तथा साथ ही भयानक रस की व्यंजना भी है—

भा किल किल अस उठै हिलोरा। जनु अकाश टूटै चहुँ ओरा ॥
उठहि लहरि परबत कै नाईं। फिरि आवहि जोजन सौं ताईं ॥
धरती लेइ सरग लहि बाढ़ा। सकल समुद्र जानहु भा ठाढ़ा ॥
नीर होइ तर ऊपर सोइ। माथे रंभ समुद्र जस होई ॥

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन उचित ही है कि "हास्यरस का तो 'पद्मावत' में अभाव ही है।"[1] अखरावट और आखिरीकलाम में भी हास्य रस की झलक देख नहीं पड़ती। 'नागमती पद्मावती विवाद खंड' में जो रहस्य-गर्भित वाक्य तथा व्यंगोक्तियाँ हैं उनमें कहीं कहीं स्मित हास्य की झलक अवश्य है परन्तु रससंचार की समर्थता उनमें भी नहीं है।

जायसी को वात्सल्य रस की व्यंजना में भी सफलता प्राप्त हुई है तथा पद्मावत में कई स्थलों पर वात्सल्यरस का समावेश हुआ है। जब राजा रत्नसेन योगी होकर सिंहल जाने को तैयार होता है तब उसकी माता का हृदय, वात्सल्यपूर्ण भावनाओं से परि-पूर्ण सा हो जाता है इसी प्रकार जब बादल रनतसेन को मुक्त कराने की प्रतिज्ञा करता हुआ युद्ध यात्रा के लिए प्रस्थान को उद्यत होता है तब उसकी जननी के वात्सल्यपूर्ण हृदय में स्वा-भाविक ही शंका जाग्रत हो उठती है—

बादलराय मोर तुइ बारा। का जानसि कस होइ जुझारा ॥
बादसाह पुहुमीपति राजा। सनमुख होइ न हमीरहि छाजा ॥

---

१. दे०—जायसी ग्रंथावली—पं० रामचन्द्र शुक्ल (भूमिका पृष्ठ

बरिसहिं सेल बान घन घोरा। धीरज धीर न बाधहिं तोरा॥

जहाँ दलपती दलमलहिं, तहाँ तोर का काज?
आजु गवन तो आवै, बैठि मानु सुखराज॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि जायसी को रस व्यंजना में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है यद्यपि उन्होंने शृंगार-करुण, वीर और वात्सल्य का ही विस्तृत तथा सफलता पूर्वक चित्रण किया है तथा अन्य रसों का या तो संक्षेप में उल्लेख मात्र कर दिया है या सहायक के रूप में ही उनकी अभिव्यक्ति की है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रबन्ध पटुता के साथ-साथ उनमें उस वर्णन की क्षमता भी विद्यमान थी।

---

५. तुलसी की काव्य-कला-कुशलता

एक रूसी आलोचक का कथन है—"प्रत्येक सत्कवि अतीत का गौरव गायक, वर्तमान का चित्रकार और भविष्य का सूक्ष्म दृष्टा होता है।" विचारपूर्वक देखा जाय तो यह कथन गोस्वामी तुलसीदास के प्रति पूर्ण चरितार्थ होता है। तुलसी का काव्य जहाँ विगत की पुनीत झाँकी प्रस्तुत करता है, वर्तमान की परिस्थितियों पर प्रकाश डालता है, वहाँ भविष्य में होनेवाली कुछ घटनाओं की ओर भी सूक्ष्म संकेत करता है। 'रामचरित-मानस' तुलसी की अमर कृति है और विश्व साहित्य की सर्वश्रेष्ठ कृतियों में उसकी गणना की जा सकती है। श्री सुमित्रानंदन पंत के शब्दों में—"मानस इतिहास में महाकाव्य, महाकाव्य में इतिहास है। उस युग के ईश्वरीय-अनुराग का नक्षत्रोज्जवल ताजमहल है, जिसमें श्री सीताराम की पुण्य-स्मृति चिरंतन सुप्ति में जाग्रत है।" महात्मा गांधी ने भी सन् १६२६ ई० के 'नवजीवन' के कुछ अंकों में तुलसी की अत्यधिक प्रशंसा की है और लिखा है—"भारत की सभ्यता की रक्षा करने में तुलसीदास जी ने अधिक भाग लिया है............।"

जैसा कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"गोस्वामी जी के प्रादुर्भाव को हिन्दी काव्य क्षेत्र में एक चमत्कार समझना

चाहिए;" वह वास्तव में पूर्णतः सत्य ही है। हिंदी कविता जगत में तुलसी का आविर्भाव जिस समय हुआ उस समय काव्य जगत में कई विभिन्न शैलियाँ प्रचलित थीं और तुलसी ने प्रत्येक प्रकार की शैली को अपनाया है। वीरगाथाकालीन छप्पय पद्धति, अपभ्रंश कालीन दोहा पद्धति, विद्यापति और सूर की सी गीति पद्धति, पद्मावत की सी प्रबंध-काव्य पद्धति तथा भाटों की सी कवित्त सवैया पद्धति आदि सभी तत्कालीन प्रचलित शैलियों को उन्होंने अपनाया है। इस प्रकार तुलसी ही हिंदी साहित्य के एक मात्र ऐसे कवि हैं जो कि तत्कालीन समस्त प्रचलित शैलियों को कुशलता से अपना सके हैं।

किसी भी कवि की काव्य कला की समीक्षा करते समय यह अवश्य देखना चाहिए कि वह बहिर्जगत और अन्तर्जगत के चित्रण में कितना अधिक सफल रहा है अर्थात् बाह्य जगत और आभ्यंतरिक जगत में पैठकर उत्तम-उत्तम भावों का संचय कर उन्हें वह कुशलता से अपनी लेखनी द्वारा व्यक्त कर सका है या नहीं। कवि को बाह्य जगत के चित्रण में यदि सफलता मिल गई तो अन्तर्जगत का भी चित्रण वह कुशलता से कर सकेगा। वास्तव में कवि के बाह्यजगत् का अनुभूतज्ञान ही उसके अन्तर्जगत का मूल आधार है। कालिदास और शेक्सपियर दोनों विश्व कवियों की रचनाओं का अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि जहाँ कालिदास बाह्यजगत के चित्रण में अत्यधिक सफल रहे हैं वहाँ शेक्सपियर एक मात्र अन्तर्जगत का ही चित्रण कर सका है। इस प्रकार से दोनों का ही क्षेत्र एकांगी ही रहा। परन्तु तुलसी को दोनों क्षेत्रों में सामान्य रूप से सफलता मिली है। बाह्य जगत के साथ-साथ आभ्यंतरिक जगत् का चित्रण भी वे कुशलता से कर सके हैं और ऐसा कोई भी विषय अवशेष नहीं रहा जिसका कि वर्णन उन्होंने न किया हो। तलसी की इस वर्णनशैली की

प्रशंसा करते हुए श्री रामनरेश त्रिपाठी ने लिखा भी है—"तुलसी-दास में वर्णन शक्ति अद्भुत थी । बाह्यजगत का सूक्ष्म निरीक्षण किये बिना कवि में ऐसी वर्णनशक्ति का विकास नहीं हो सकता। तुलसीदास ने जिस विषय को हाथ में लिया उसका उन्होंने एक जीता जागता चित्र सा खींचकर खड़ा कर दिया है। इससे उनकी सुरुचि और प्रत्येक विषय को सांगोपांग देखने और उसमें निहित सौन्दर्य को हृदयंगभ करने की अद्भुत पिपासा का प्रमाण मिलता है।"

साहित्यादर्पण कार ने महा काव्य के लक्षणों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

संध्या सूर्येन्दु रजनी प्रदोष ध्वान्त वासराः ।
प्रातर्मध्यान्ह मृगया शैलर्तुवन सागराः ॥
संभोग विप्रलम्भौच मुनि स्वर्ग पुराध्वराः ।
रणप्रयाणोंपयममन्त्र पुत्रोदयादयः ॥
वर्णनीया यथायोगं साङ्गोपाङ्गा अमी इह ॥

अर्थात् महाकाव्य में संध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, दिन, अंधकार, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, संयोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम यात्रा, विवाह, मंत्र आदि का यथानुसार सांगोपांग वर्णन होना आवश्यकीय है । 'रामचरितमानस' में इन समस्त विषयों का वर्णन दृष्टिगोचर होता है तथा प्रसंगानुसार तुलसी ने इन सभी का वर्णन किया है।

तुलसी एक भक्त अवश्य थे किन्तु साथ ही कवि—महाकवि—भी थे। यद्यपि 'कवि न होऊँ नहिं चतुर प्रबीना' कह कर अपनी दीनता प्रदर्शित करते हुए वे न तो अपने को कवि ही मानते हैं

और न काव्य ज्ञान में चतुर।[1] परन्तु इस पंक्ति द्वारा यह भी भास होता है कि उनका लक्ष्य कविता करना न था और न ही उनमें यशोलिप्सा ही थी। अतएव उनकी भक्ति-भावना ही उनके काव्य में भी विशेषरूप से दृष्टिगोचर होती है और जिस प्रकार भक्ति के क्षेत्र में वे महान् थे उसी प्रकार कविता जगत में भी उनका अद्वितीय स्थान था। वस्तुतः कवि वही है जिसकी भावनाएँ आप ही आप जाग्रत होकर उद्गारों के रूप में प्रकट हो उठें और उनकी अभिव्यक्ति के हेतु कवि को विशेष परिश्रम न करना पड़े। तुलसी की 'स्वतः सुखाय' रचनाएँ इसीलिए आज तक आदर की दृष्टि से देखी जाती रही हैं और बाल-वृद्ध सभी को आनन्द प्रदान कराती रही हैं।

बहिर्जगत का चित्रण करते समय तुलसी ने प्राकृतिक दृश्यों की सुषमा भी अंकित की है किन्तु उनके चित्रण में कलात्मकता की अपेक्षा गूढ़ उपदेश ही प्रचुरता से दृष्टिगोचर होते हैं। तुलसी ने प्रकृति को उपदेश और नीति का माध्यम माना है तथा प्रकृति के भिन्न भिन्न व्यापारों में उन्हें उपदेश ही उपदेश दृष्टिगोचर होते

---

[1] इसी प्रकार कालिदास ने भी अपनी निरभिमानता इन शब्दों में व्यक्त की है—

मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्य ताम्।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः॥
(रघुवंश)

प्रसिद्ध कवि शेक्सपियर ने भी अपनी नम्रता प्रदर्शित करते हुए लिखा है—

Thus far with rough and all unable pen,
our bending author hath Pursued the Story
(King Henry V.)

हैं। पावस वर्णन में गिर-उपत्यकाओं, नीलवारिदों और विद्युच्छटा की रमणीयता का चित्रण करने की ओर उनका अधिक ध्यान नहीं गया बल्कि विद्युत की चंचलता देखकर उन्हें दुर्जनों की प्रीति का स्मरण होता है, पावस-पयोदों को देख उन्हें विद्वानों की नम्रता की स्मृति होती है, पर्वतों की सहिष्णुता से उन्हें संतों की सहिष्णुता का ध्यान आता है, थोड़ी सी ही वृष्टि से सरिताओं में आनेवाली बाढ़ से उन्हें थोड़ा सा ही धन पा जाने पर इतराने वाले दुष्टजनों की याद आती है और सरोवरों के जल-ग्रहण करने से उन्हें उन सज्जनों का स्मरण होता है जो कि सुन्दर सुन्दर विचारों को ग्रहण करते हैं। यद्यपि प्रकृति को उपदेश और नीति के माध्यम के रूप में सर्व प्रथम श्रीमद्भागवत में ही चित्रित किया गया है तथा तुलसी का वर्षा वर्णन और शरद् वर्णन दोनों ही श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध के बीसवें अध्याय के वर्षा और शरद् वर्णन से प्रभावित से हैं।[1] किन्तु तुलसी के ऋतुवर्णन में विशदता है तथा कहीं कहीं नवीन मौलिक विचारों का भी संगुफन किया गया है। चूंकि समस्त प्रकृति उनकी दृष्टि में उपदेशिका है अतः

---

१ महर्षि व्यास का शरद् वर्णन देखिए—

गाधवारिचरास्तापमविन्दञ्शरद कर्जम।
यथा दरिद्रः कृपणः कुटुम्ब्यविजितेन्द्रियः॥
सर्वस्वं जलदा हित्वा विरेजुः शुभ्रवर्चसः।
यथा त्यक्तबैणाः शान्ता मुनयो मुक्ताकिल्विष॥
गिरयो मुमुचुस्तोयं क्वचिन्न मुमुचः शिवम्।
यथा ज्ञानामृत काले ज्ञानिनो ददते न वा॥
वाणीङ्मुनिनृपस्नाता निर्गम्यर्थंन प्रपेदिरे।
वर्षरुद्धा यथा सिद्धाः स्वपिराडान काल आगते॥

—श्री मद्भागवत, स्व० १० पू० अ० २०

पम्पा सरोवर में अपनी प्यास शान्त करने के लिए आए हुए मृगों के झुंड को देखकर उन्हें उदार गृहस्थ के द्वार पर एकत्रित याचकों का ध्यान आता है—

जहँ तहँ पिअहिं बिबिध मृग नीरा।
जनु उदार गृह जाचक भीरा॥

परन्तु इस प्रकार के प्रकृति वर्णन में प्रकृति का स्थान गौण ही रहता है और उपदेशात्मक तथा नीतिपरक भावना को ही प्रधानता मिलती है। यद्यपि तुलसी का प्रकृति वर्णन विशेष रूप से इसी शैली का ही है किन्तु उन्होंने एक दो स्थलों पर आलम्बन रूप में भी प्रकृति का चित्रण किया है। और—प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण कर उसकी प्रत्येक वस्तु का परिगणन न कराकर सब को एकत्रित कर संश्लिष्ट योजना द्वारा एक मनोरम दृश्य उपस्थित कर दिया है देखिए—

सब दिन चित्रकूट नीको लागत।
वरषा ऋतु प्रवेश विशेष गिरि देखत मन अनुरागत॥

अब तुलसी के शरद् वर्णन की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

उदित अगस्त पंथ जल सोषा। जिमि लोभहिं सोषइ संतोषा॥
सरिता सर निर्मल जल सोहा। संत हृदय जस गत मद मोहा॥
रस रस सूख सरित सर पानी। ममता त्याग करहिं जिमि ग्यानी॥
जानि सरद ऋतु खंजन आए। पाइ समय जिमि सुकृत सुहाए॥
पंक न रेनु सोइअसि धरनी। नीति निपुन नृप कै जस करनी॥
जल सँकोच बिकल भइ मीना। अबुध कुटुंबी जिमि धन हीना॥
बिनु घन निर्मल सोह अकासा। हरिजन इव परि हरि सब आसा॥

चले हरषि तजि नगर नृप तापस बनिक भिखारि।
जिमि हरि भगति पाइ श्रम तजहिं आश्रमी चार॥

सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु रंग मंगे सृङ्गनि।
मनहुं आदि अंभोज विराजत सेवित सुर मुनि भृङ्गनि॥
सिखर परसि घन घटहिं मिलति वग पाँति सो छबि कवि बरनी।
आदि वराह बिहरि बारिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरनी॥
जल जुत विमल सिलनि झलकत नभ वन प्रतिविम्ब तरंग।
मानहु जग रचना विचित्र विलसति विराट अंग अंग॥

इसी प्रकार तुलसी के रूपवर्णन में भी कल्पना और भावुकता का सुंदर संयोग देख पड़ता है। अप्रस्तुत विधान की सहायता से यद्यपि उन्होंने सीता का रूप वर्णन अलंकार पूर्ण ही किया है किन्तु वे सर्वथा संयत भी रहे हैं और कहीं भी मर्यादा से बाहर नहीं गए। देखिए—

जौ छबि सुधा पयोनिधि होई। परमरूपमय कच्छपु सोई॥
सोभा रजु मंदरु सिंगारू। मथै पानि पंकज निज चारू॥

एहि बिधि उपजइ लच्छि जब सुंदरता सुख मूल।
तदपि सकोच समेत कबि कहहि सीय सम तूल।

रूपक और व्यतिरेक अलंकारों से युक्त इन पंक्तियों में सीता के सौन्दर्य की मनोहर झाँकी प्रस्तुत की गई है। तुलसी की काव्यकला कुशलता का यह एक अत्युत्तम उदाहरण है। सीताजी के वियोग में विलाप करते समय रामचन्द्र जी कहते हैं—

खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रबीना॥
कुंदकली दाड़िम सुदामिनी। कमल सरद ससि अहि भामिनी॥
वरन पास मनोज धनु हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रशंसा॥
श्री फल कनक कदली हरषाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं॥

सीता के इस सौन्दर्य वर्णन में कवि कवि-परम्परा का ही अनुगामी रहा है। इस प्रकार उपमानों की सहायता से न जाने कितने कवियों ने नायिकाओं का नखशिख वर्णन किया है परन्तु

तुलसी की पंक्तियों में जैसी सरसता, रोचकता और कलात्मकता है वैसी कदाचित् ही अन्य किसी कवि के सौन्दर्य वर्णन में हो। तुलसी के पूर्ववर्ती और परवर्ती दोनों ही प्रकार के कवियों ने रूप वर्णन किया है किन्तु तुलसी की सी कुशलता उनकी उक्तियों में न आ सकी। अवधी के प्रसिद्ध कवि जायसी ने पद्मावत में पद्मिनी का रूप चित्रण करते समय लिखा है—

ससि मुख, अंग मलयगिरि बासा। नागिनि झाँपि लीन्ह चहुपासा ॥
ओनई घटा परी जग छाँहा। ससि के सरन लीन्ह जनु राहा ॥
भूलि चकोर दीठि मुख लावा। मेघ घटा महँ चंद देखावा ॥

इसी प्रकार दास जी ने भी कवि परिपाटी का अनुसरण करते हुए भिन्न-भिन्न उपमानों की सहायता से नायिका का सौंदर्य वर्णन किया है किन्तु उनकी उक्ति में स्वाभाविकता की अपेक्षा चमत्कार ही विशेषरूप से झलक उठता है। देखिए—

आनन है अरविंद न फूले,
अलीगन ! भूले कहाँ मँडरात हौ ?
कीर कहा तोहिं बाइ भई भ्रम,
बिंब के ओंठन को ललचात हौ ?
दासजू ब्याली न, बेनी रची,
तुम पापी कलापी कहा इतरात हौ ?
बोलति बाल न बाजती दीन,
कहा सिगरे मृग घेरत जात हौ ?

रूपवर्णन की परम्परा वस्तुतः संस्कृत साहित्य में भी विद्यमान रही है और आदि कवि वाल्मीकि, महर्षि व्यास, कालिदास, भवभूति आदि ने भी सौंदर्यवर्णन किया है। कालिदास तो रूप और यौवन का ही कवि है तथा मेघदूत की निम्नांकित पंक्तियों

में उन्होंने यक्ष-वनिता का रूप वर्णन बड़े ही कलापूर्ण ढंग पर किया है।

श्यामा स्वगं चकित हृरिणी प्रेक्षणों हृष्टिपांतं
वक्रच्छाया शशिनि शिखानां बंर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यमि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासा—
न्हन्तं कस्मिन्क्वचिदपिन ते चारीड सादृश्यमस्ति ॥

इसी प्रकार शेक्सपियर ने भी Rameo and Juiliet में जूलियट का रूप-वर्णन किया है—

Oh, she doth teach the torches to burn bright Her beauty hangs upon the cheek of night like a rich jewel in an Ethiop's ear. Beauty too rich for use, for earth, to dear. so shows a showy dove trooping with crows As yonder lady, over her felows shows.

बाह्यजगत पर तुलसी का पूर्ण आधिपत्य था कदाचित भाव-व्यंजना भी इसीलिए उनकी अनुपम हो सकी है तथा उनकी अभिव्यंजन शैलियाँ भी सराहनीय हैं। उनकी भावमूर्ति विधायनी कला का एक उदाहरण देखिए—

जटा मुकुट सिर सारस नयननि भौंहें तकत सुभौंहं सकोरे।

और भी—

सोहति मधुर मनोहर मूरति हेम हरिन के पाछें।
धावनि नवनि बिलोकनि बिथकनि बसै तुलसी उर आछें॥

किसी भी कवि की भावुकता का परिचय इस बात से लग सकता है कि वह अपने काव्य में अधिक से अधिक कितने मर्म-स्पर्शी स्थलों को प्रस्तुत कर सका है। प्रन्बध काव्य वही सफल हो सकता है जिसमें मर्मस्पर्शी स्थलों की बहुलता हो। तुलसी को इस दिशा में भी अद्वतीय सफलता प्राप्त हुई है। 'रामचरित मानस'

में रामवनगमन, राम और भरत की भेंट, शबरी का आतिथ्य, लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम-विलाप आदि कई हृदयस्पर्शी वर्णन हैं। तुलसी वस्तुतः पूर्ण रूप से भावुक थे और इसीलिए उनकी भावुकता उनकी कृतियों में सर्वत्र ही झलक उठती है। एक चित्र देखिए—

राम-बासथल बिटप बिलोके।
उर अनुराग रहत नहिं रोके।।

राम से भेंट करने के लिए भरत नंगे पैरों दौड़े चले जा रहे हैं। मार्ग में जहाँ कहीं उन्हें यह विदित होता है कि इस स्थल पर ठहरकर राम ने विश्राम किया था ; उस स्थल को देखते ही प्रेम से गद्गद् हो वे नैनों से नीर प्रवाहित करने लगते हैं। प्रकृति भी उनकी सहायता के लिए तत्पर हो उठती है और उनके मार्ग को सुगम बनाना चाहती है—

किएँ जाहिं छाया जलद, सुखद बहइ बरबात।

दाम्पत्य प्रेम के चित्र भी तुलसी की लेखनी ने प्रस्तुत किए हैं परन्तु उनमें रीतिकालीन कवियों की भाँति उच्छृंखलता नहीं है। रामवनगमन का प्रसंग है; राम वन में जाने के लिए सीता से विदा माँगने आए परन्तु सीता भी उनके साथ वन जाना चाहती हैं। वे कहती हैं—

बन दुख नाथ कहे बहुतेरे। भय-विषाद परि ताप घनेरे।।
प्रभु-वियोग लवलेश-समाना। सब मिलि तोहिं न कृपा निधाना।।
कुस-किसलय-साथरी सुहाई। प्रभु सँग मंजु मनोज तुराई।।
कंद-मूल-फल-अमिय अहारू। अवध-सौध सत-सरिस पहारू।।
मोहिं मग चलत न होइहि हारी। छिनु-छिनु चरन-सरोज निहारी।।
पायँ पखारि बैठि तरु-छाहीं। करिहौं बाउ मुदित मन माहीं।।
बार बार मृदु मूरति जोही। लागिहि ताति बयारि न मोही।।

पुनीत प्रेम का यह एक सुन्दर उदाहरण है तथा इसमें हृदय की विभिन्न मनोदशाओं का कलापूर्ण चित्रण कवि ने किया है। पति चाहे कैसी भी परिस्थिति में क्यों न हो भारतीय नारी उसके साथ सर्वदा ही कष्ट झेलने के लिए तत्पर रहती है। राम और सीता को नंगे पैरों चलते हुए देख ग्रामवासी भी दुखी होते हैं और कहते हैं—

जौ जगदीश इन्हहि बन दीन्हा।
कस न सुमनमय मारग कीन्हा॥

इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर भी तुलसी ने दाम्पत्य रति की मनोरम व्यंजना की है। राम और सीता वन में से जा रहे हैं। मार्ग में-ग्राम-वनिताओं ने सीता से पूछा कि ये श्यामवर्ण वाले पुरुष तुम्हारे कौन हैं? चूँकि भारतीय नारी अपने पति का नाम नहीं लेती हैं अतः सीता ने 'हाव भाव' द्वारा ही उनके प्रश्न का उत्तर दे दिया—

कोटि मनोज लजावन हारे। सुमुखि कहहु को आहि तुम्हार॥
सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुचि सीय मन महँ मुसुकानी॥
तिन्हहि बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ सँकोच सकुचति बर-बरनी॥
सकुच सप्रेम बाल मृगनयनी। बोली मधुर बचन पिक बयनी॥
सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नाम लषन लघु देवर मोरे॥
बहुरि बदन-बिधु अंचल ढाँकी। पिय-तन चितै भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नैननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सिय सैननि॥

कुलवधू भला इससे अधिक और कह भी क्या सकती है। शेक्सपियर की 'डेस्डिमोना' तो यौवनोन्मद हो अपने पिता से ही इस प्रकार से निर्लज्जता पूर्ण ढंग से कहती है

My noble father.
I do perceive herea divided duty:

To you, I am bound for life, and education
My life, and education both to learn me.
How to *res-pect* you, you are the lord of duty
I am hitherto your daughter.

But here is my husband
And so much duty as my mother shew'd
To yoy, perferring you before her father
So much I challeng, that I may profess
Due to the Moor, my lord.

(othello)

तुलसी की कृतियों में शृंगाररस की व्यंजना कई स्थलों पर हुई है किन्तु उनमें न तो अश्लीलता का नग्न चित्रण ही कहीं है और न कामुकता ही है। एक उदाहरण देखिए—

करत बतकही अनुज सन, मन सियरूप लोभान।
मुख सरोज मकरंद छवि करइ मधुप इव पान॥
देखन मिस मृग बिहग तरु, फिरइ बहोरि बहोरि॥
निरखि निरखि रघुबीर छबि बाढ़इ प्रीति न थोरि॥

विप्रलंभ शृङ्गार की मर्मस्पर्शी अभिव्यंजना सीताहरण केउपरान्त रामविलाप वाले प्रसंग में भी की गई है। यहाँ तो हम एक दूसरा ही विप्रलंभ शृंगार युक्त उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। अशोक वाटिका में सीता और हनुमान की भेंट हुई। हनुमान संदेश वाहक के साथ साथ राम के पुत्रवत् भी थे। सीता का हृदय वियोग से परिपूर्ण था; परन्तु जिस प्रकार कि एक माता अपने पुत्र के सामने शिष्टता के साथ अपने वियोग जनित दुःख को व्यक्त करती है, सीता ने भी वही किया। उन्होंने पहले 'अनुज

सहित' राम की कुशल पूछी (एक मात्र राम की ही नहीं । और फिर कहा—

कोमलचित कृपालु रघुराई । कपि केहि हेतु धरी निठुराई ॥
सहज बानि सेवक सुखदायक । कबहुँक सुरति करत रघुनायक ॥
कबहुँक नयन मम सीतल ताता । होइहि निरखि श्याम मृदुगाता ॥

भारत की कुलवधुएँ आवारा माशूकों के समान अपना विरह प्रकट नहीं करती हैं वरन् गंभीरता और मर्यादा के साथ अपने दुःख को व्यक्त करती हैं। प्रिय से मिलने की व्यग्रता उनमें अवश्य रहती है किन्तु उच्छ्रंखलता दिखलाना उन्हें शोभाप्रद नहीं जान पड़ता। वासना विहीन शुद्ध दामपत्य प्रेम के शृंगार रसपूर्ण परम पुनीत चित्र तुलसी ही प्रस्तुत कर सके हैं।

'राम वन गमन' के प्रसंग में करुण रस का संनिवेश कवि ने कुशलता के साथ किया है। राम के वन जाने से मनुष्यों को तो दुःख हुआ ही पशु तक दुखी हो उठे। जिस रथ पर राम को सुमंत्र कुछ दूर तक पहुँचा आए थे, अयोध्या वापिस लौटते समय उसी रथ के घोड़े शोकाकुल होकर इस प्रकार अपना शोक प्रकट करते हैं—

देखि दखिन दिसि हय हिहिनाहीं । जनु बिनु पंख बिहँग अकुलाहीं ॥

और भी—

नहि तृन चरहिं न पिवहिं जल, मोचहिं लोचन वीर ॥

दशरथ के निधन के उपरान्त अयोध्या भी शोकपूर्ण हो गई। और इसी प्रकार लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम भी करुणापूर्ण विलाप करते हैं। इस विलाप में दुःख की अभिव्यक्ति स्वाभाकि रूप से ही की गई है। राम उस समय अनुज के वियोग में इतना अधिक विकल हो उठते हैं कि यहाँ तक कह देते हैं—

जो जनतेऊ बन बंधु-बिछोहू ।
पिता-बचन मनतेऊँ नहिं ओहू ॥

हास्य रस का सुंदर स्त्रोत नारदमोह के प्रसंग में प्रवाहित होता है। नारद राजकन्या को मोहित करने के लिए विष्णु से सुन्दर रूप माँगने गए थे पर उन्हें मिला बंदर का रूप। नारद उसी प्रकार का रूप लिए स्वयम्बर की सभा में पहुँचे। कवि यहाँ कितनी कुशलता के साथ हास्य रस की व्यंजना कर रहा है। देखिए—

काहु न लखा सो चरित बिसेखा। सो सरूप नृप कन्या देखा॥
मर्कट बदन भयंकर देही। देखत हृदय क्रोध भा तेही॥
जेहि दिसि बैठे नारद फूली। सो दिसि तेहि न बिलोकी भूली॥
पुनि पुनि मुनि उसकहिं अकुलाहीं। देखि दसा हरगन मुसुकाहीं॥

यह एक शिष्ट-हास्य स्मितहास्य-का उदाहरण है अब हास्य का यह दूसरा मनोरंजक उदाहरण देखिए—

विंध्य के बासी उदासी तपोव्रतधारी
महा, बिनु नारि दुखारे।
गौतम तीय तरी, तुलसी सो
कथा सुनि भे मुनि बृंद सुखारे॥
ह्वै है सिला सब चंदमुखी
परसे पद-मंजुल-कंज तिहारे।
कीन्हीं भली रघुनायक जू,
करुना करि कानन को पगुधारे॥

जनक के 'बीर बिहीन मही मैं जानी' कहने पर लक्ष्मण की आकृति में जो रौद्रता आई वह तुलसी के शब्दों में सुनिए—

माखे लखन कुटिल भईं भौंहें। रदपट फरकत नयन रिसौहें॥
रघुबंसनि महँ जहँ कोउ होई। तेहि समाज अस कहै न कोई॥

वीभत्स रस का एक उदाहरण देखिए प्राय: वीभत्स रसपूर्ण वर्णन के पढ़ते ही जुगुप्सा सी जाग्रत होने लगती है पर तुलसी

की इन पंक्तियों में रसोद्रेक तो होता ही है पर पाठक या श्रोता को जुगुप्सा नहीं होती—

राम सरासन ते चले तीर,
रहे न सरीर, हड़ावरि फूटी ।
रावन धीर न पीर गनी,
लखि लैकर खप्पर जोगिन जूटी ॥
सोनित - छींट - छटानि - जटे,
तुलसी प्रभु सोहैं, महाछवि छूटी ।
मानो मरक्कत-सैल-बिसाल मैं,
फैलि चलीं बर बीर बहूटी ॥

रक्तबिंदुओं से लथपथ किसी का भी शरीर देख स्वाभाविक ही मुँह फेर लेने की इच्छा होती है; पर कवि की सूक्ष्म पर्यवेक्षणी शक्ति तो देखिए कि यहाँ भी उसने अप्रस्तुत विधान की सहायता से वीभत्स-वर्णन में भी सुन्दरता ला दी है। साथ ही अप्रस्तुत विधान होने पर भी रस विरोध नहीं होने पाया है। रामचरित-मानस में भी इसी प्रकार के प्रसंग में तुलसी ने अप्रस्तुत विधान की सहायता से मधुरता ला दी है—

भुज-दंड सर-कोदंड फेरत रुधिर-कन तन अति बने ।
जनु रायमुनी तमाल पर बैठीं विपुल सुख आपने ॥

कालिदास ने भी रूपक की सहायता से ताड़काबध में सौंदर्य लाना चाहा है पर रसविरोध होने से उनकी उक्ति में वैसी स्वाभाविकता न आ सकी जैसी तुलसी की उक्तियों में है—

राममन्मथशरेण ताड़िना दुःसहेन हृदये निशाचरी ।
गन्धव द्रुधिर चन्दनोक्षता जीवते शवसति जगाम सा ॥

तुलसी सर्वत्र ही हृदय के विविध भावों की व्यंजना कुशलता

से कर सके हैं। कौशल्या के सामने भरत अपने हृदय की आत्म-ग्लानि इन शब्दों में प्रकट करते हैं—

जौ हौं मातुमते महँ ह्वै हौ।
तौ जननी जग में या मुख की कहाँ कालिमा ध्वैहौं?
क्यौं हौं आजु होत सुचि सपथनि, कौन मानिहै साँची?
महिमा-मृगी कौन सुकृती की खल-बच-बिसिषन्ह बाँची?

तुलसी चरित्र चित्रण में भी पूर्ण सफल रहे हैं तथा मानव जीवन की समस्त परिस्थितियों का स्वाभाविक चित्रण ही उनकी रचनाओं में दृष्टिगोचर होता है। जैसा कि डा० श्यामसुन्दरदास ने लिखा है—"बाह्य प्रकृति से भी अधिक गोसाईं जी की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि अन्तः प्रकृति पर पड़ी थी। मनुष्य स्वभाव से उनका सर्वांगीण परिचय था। भिन्न भिन्न अवस्थाओं में पड़कर मन की क्या दशा होती है, इसको वे भलीभाँति जानते थे। इसी से उनका चरित्र चित्रण बहुत पूर्ण और दोषरहित हुआ है।" तुलसी के चरित्र चित्रण की महत्वपूर्ण विशेषता तो यह है कि इन्होंने प्रत्येक पात्र का भिन्न भिन्न परिस्थितियों में नैसर्गिक विकास दिखाया है जिससे कि उसमें स्वाभाविकता आ सके। इसी प्रकार मानस के सभी पात्रों में रामभक्ति की व्यापकता भी देख पड़ती है। श्री राम के पारिवारिक व्यक्तियों, आत्मीयजनों और भक्त अनुयायियों के हृदय में रामभक्ति तो विद्यमान थी ही किन्तु साथ ही उनके (राम के) विरोधियों और विपक्षियों में राम भक्ति की भावना देख पड़ती है। विभीषण, माल्यवान्, और शुक् तो राम को अखिल लोक का नायक समझते ही थे, स्वयं रावण की पत्नी मन्दोदरी ने भी सीतापहरण कर्म की निन्दा की थी और रावण को राम का विरोध न करने की राय दी थी। मन्दोदरी ने रावण के सामने विस्तार के साथ राम के विशदरूप का वर्णन

किया था। मारीच और कालनेमि ने भी राम की ईश्वरता स्वीकार की थी तथा कुंभकर्ण, मेघनाद और स्वयं रावण भी राम के महत्व को मानते थे। रावण ने राम से बदला लेने का निश्चय अवश्य कर लिया था परन्तु वह यह भी सोचता है कि—

खर दूषन मो सम बलवंता। तिन्हहि को मारइ बिनु भगवंता।

अतएव—

सुर रंजन भंजन महि भारा। जौं भगवंत लीन्ह अवतारा॥
तौ मैं जाइ बैरु हठि करऊँ। प्रभु सर प्रान तज भव तरऊँ॥

क्योंकि—

होइहि भजनु न तामस देहा। मन क्रम बचनं मंत्र दृढ़ एहा॥

भाव पक्ष के साथ साथ तुलसी का कला पक्ष भी प्रौढ़ था और इसीलिए तत्कालीन काव्य क्षेत्र में प्रचलित प्रत्येक प्रकार की अभिव्यंजन शैलियों को अपनाने में उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। 'मानस' जहाँ महाकाव्य की दृष्टि से हिंदी साहित्य की गौरवान्वित कृति माना जाता है और उसे हिंदी की अक्षय निधि माना जाता है वहां गीतिकाव्य की दृष्टि से श्रीकृष्ण गीतावली, रामगीतावली और विनय पत्रिका भी उनकी उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। श्रीकृष्ण गीतावली ६१ पदों की एक छोटी सी पुस्तक है जिसके स्फुट पदों में कृष्ण कथा के हृदय स्पर्शी प्रसंगों का चित्रण किया गया है। श्रीकृष्ण गीतावली के पद बाललीला, भ्रमरगीत, नेत्रवर्णन, और द्रौपदी चीर हरण नामक चार भागों में विभाजित किए जा सकते हैं। इसी प्रकार रामगीतावली में तुलसी ने रामकथा का वर्णन किया है और उसमें प्रबन्धात्मकता की ओर भी उन्होंने विशेष ध्यान दिया है। विनय पत्रिका तो उनकी एक सर्वतोकृष्ट कृति है जिसमें कि उनके धार्मिक सिद्धान्तों और भक्ति भावना के साथ साथ शुद्ध कवित्व की भी झलक देख पड़ती

है। डा० रामरतन भटनागर के शब्दों में—"विनय पत्रिका में तुलसी के उन विचारों को ही स्तोत्रात्मक और गीतात्मक रूप मिला है जो उनके मानस की आधार भूमि हैं। परन्तु जहाँ मानस में उनका रूप वर्णनात्मक है याने तर्क-समन्वित हैं, वहां विनय पत्रिका में उनका रूप भावात्मक है और वे सिद्धान्त तुलसी के प्रेम विश्वास को पाकर जगमगा उठे हैं।"

जिस प्रकार तुलसी ने तत्कालीन प्रचलित समस्त काव्य शैलियों को अपनाया है उसी प्रकार वे अवधी और ब्रजभाषा दोनों में ही सफलता पूर्वक काव्य-सृजन कर सके हैं। तुलसी के समय में काव्यभाषा के ये दोनों रूप प्रचलित थे। वीरगाथा काल के कवियों की कृतियों में ब्रजभाषा की झलक देख पड़ती है और पृथ्वीराज रासो की भाषा पर तो उसका यथेष्ट प्रभाव पड़ा है यद्यपि ब्रजभाषा उस समय उतनी परिपक्व न हो सकी थी। नाथपंथियों ने जिस सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग किया है उसमें भी राजस्थानी और पंजाबी के साथ साथ ब्रजभाषा भी झलक उठती है। कबीर के पदों की भाषा ब्रजभाषा ही है तथा सूर ने भी इसी ब्रज की चलती बोली को साहित्यिक बाना पहनाकर काव्यभाषा के सर्वोच्च आसन पर प्रतिष्ठित किया। यद्यपि सूर की ब्रजभाषा में क्रियाओं के कुछ पुराने रूप और प्राकृत के शब्द भी दृष्टिगोचर होते हैं पर सूर ब्रजभाषा को सविदेशिक भाषा बनाने में सफल अवश्य रहे हैं। इधर ब्रजभाषा के इस मधुर स्त्रोत के साथ साथ अवधी का स्त्रोत भी प्रवाहित हो रहा था। प्रेममार्गीशाखा के कवियों ने अपनी प्रेमगाथाएँ अवधी में ही लिखी हैं। 'पद्मावत' की भाषा ठेठ अवधी ही है। संस्कृत का अत्यधिक ज्ञान होते हुए भी तुलसी का देशभाषा को अपनाना सराहनीय कार्य ही माना जाएगा। उस समय प्रसिद्ध प्रसिद्ध विद्वान देश भाषा में रचे हुए काव्य को हीन दृष्टि से देखते थे परन्तु तुलसी ने देशभाषा

में ही काव्य रचना कर दूसरों के उपहास की तनिक भी चिन्ता न की—

भाषा भनिति मोर मति थोरी।
हँसिबे-जोग हँसे नहिं खोरी॥

तुलसी ने कवितावली, राम गीतावली, कृष्ण गीतावली और विनय पत्रिका की रचना ब्रजभाषा में की तथा रामचरितमानम, बरवै रामायण, पार्वती-मंगल, जानकी मंगल और रामललानहछू की रचना अवधी में की। ठेठ अवधी का जो माधुर्य जायसी की 'पद्मावत' में है वही रामललानहछू, बरवै रामायण, जानकी मंगल और पार्वती मंगल में भी है। यद्यपि पद्मावत और रामचरित-मानस दोनों ही अवधी में लिखे गए हैं परन्तु दोनों की भाषा में कुछ अंतर भी है। जायसी की अवधी ठेठ अवधी है—जब कि तुलसी की अवधी संस्कृत मिश्रित साहित्यिक अवधी है। और उन्होंने जगह-जगह पर संस्कृत की कोमलकांत पदावली का अनुसरण किया है। यद्यपि तुलसी के पूर्व ही अवधी में प्रेमगाथाएँ लिखी जा चुकी थीं परन्तु इसका श्रेय तुलसी को ही है जो कि उन्होंने इसे साहित्यिक साँचे में ढाल काव्य-भाषा के उपयुक्त बना दिया और इस प्रकार अवधी में 'मानस' की रचना कर अवधी को सर्वदा के लिए अमर कर दिया।

तुलसी ने ब्रजभाषा को भी साहित्यिक साँचे में ढालने का प्रयत्न किया है और इस प्रकार उन्होंने ब्रजभाषा का केवल ढाँचा भर ग्रहण किया है तथा मुहावरों और अन्यदेशीय शब्दों के योग से उसे सामान्य काव्यभाषा बनाने का प्रयास किया है। उनकी भाषा में स्वाभाविकता इतनी अधिक है कि यह प्रतीत ही नहीं होता कि उसमें अन्य देशी और विदेशी भाषाओं के भी शब्द हैं। तुलसी ने प्रचलित और अप्रचलित कई शब्दों को ब्रज का बाना

पहिना दिया है। संस्कृत तथा प्राकृत के भी कुछ अप्रचलित शब्द तुलसी की कृतियों में दृष्टिगोचर होते हैं परन्तु इतने पर भी दुरूहता कहीं नहीं आ सकी है।

तुलसी की भाषा की प्रमुख विशेषता तो यह है कि उन्होंने सर्वथा भावानुकूल भाषा ही लिखी है। जो तुलसीदास इस प्रकार की कोमलकांत पदावली का व्यवहार करते हैं—

बर दंत की पंगति कुंदकली,
अधराधर पल्लव खोलन की।
चपला चमकै घन बीच जगै,
छबि मोतिन माल अमोलन की॥
घुंघरारि लटैं लटकैं मुख ऊपर,
कुंडल लोल कपोलन की।
निवछावरि प्रान करैं तुलसी,
बलि जाउँ लला इन बोलन की॥

वे ही वीर या भयानक रस की अभिव्यंजना करते समय इस प्रकार की शब्द-योजना करते हैं—

मत्त भट - मुकुट - दसकंध-साहस-सइल,
सृंग-बिरहनि जनु बज्र-टाँकी।
दसन धरि धरनि चिक्करत दिग्गज कमट,
सेष संकुचित, संकित पिनाकी॥
चलित मेह मेरु, उच्छलित सायर सकल,
बिकल बिधि बधिर दिसि बिदिसि झाँकी।
रजनिचर-घरनि-घर गर्भ-अर्भक स्त्रवत,
सुनत हनुमान की हाँ बाँकी॥

तुलसी की रचनाओं में आवश्यकतानुसार उत्तम भाषा के तीनों प्रधान गुणों की अधिकता है। वीर, रौद्र, वीभत्स एवं

भयानक रस की अभिव्यक्ति में ओज गुण और शृंगार, करुण, शांत तथा हास्यरस की व्यंजना में माधुर्य गुण आवश्यकीय हैं। उनकी भाषा में ये दोनों गुण तो दृष्टिगोचर होते ही हैं; साथ ही प्रसाद गुण की भी बहुलता सी है।

तुलसी की भाषा में मुहावरों और लोकोक्तियों की भी प्रचुरता है। कहीं कहीं प्रांतीय मुहावरे भी हैं अन्यथा सर्वत्र सार्वदेशिक मुहावरों का ही प्रयोग हुआ है। मुहावरों, लोकोक्तियों और कहावतों के प्रयोग में वस्तुतः उनको अद्वितीय सफलता प्राप्त हुई है, तुलसी शब्दयोजना के सहारे कहीं कहीं बड़ा सुंदर चित्र सा खींच देते थे। चित्रकूट में राम के सामने जाते समय भरत की दशा का कितना सुंदर चित्र तुलसी ने यहाँ प्रस्तुत किया है—

बिलोके दूर तें दोउ वीर।

मन अगड़हूँ, तन पुलक सिथिल भयो, नयन नलिन भरे नीर।
गड़त गोड़ मनो सकुच पंक महँ, कढ़त प्रेमबल धीर॥

संस्कृत की कोमलकांत पदावली का प्रयोग करने से भाषा में साहित्यिकता, सुघरता और सुमधुरता का समावेश हुआ है। 'विनय पत्रिका की भाषा संस्कृत गर्भित अवश्य है परन्तु केशव की भाँति तुलसी ने अप्रयुक्त संस्कृत शब्दों को ठूँसने का प्रयास नहीं किया। तुलसी अलंकार व्यंजना में भी पूर्ण सफल रहे हैं और प्रायः सभी प्रकार के अलंकार उनकी कृतियों में दृष्टिगोचर होते हैं।

यह तो हम प्रारम्भ में ही लिख चुके हैं कि तुलसी की भाषा में अन्य दूसरी भाषाओं के शब्द भी मिलते हैं। अरबी के गरीब, गनी, साहिब, हलक, कहरी, गुलाम, हराम, किसब, हबूथ, नफीरि और फारसी के कागर, दगाबाज, दराज, नेवाज़, सालिभ, कागद,

जहाना, असवार, बकसीस, साहिदानी, कोतल, सहम जैसे बहुत से शब्द तुलसी की कृतियों में देख पड़ते हैं। इनके साथ साथ बँगला के खटना, वैसा, गुजराती के माँगी, लाधे तथा भोजपुरी के दिहल, रौरे और राउर शब्द भी उनकी रचनाओं में उपलब्ध होते हैं। बुंदेलखण्डी शब्द और मुहावरे दोनों ही प्रचुर संख्या में तुलसी की कृतियों में देख पड़ते हैं। तुलसी आवश्यकतानुसार नई क्रियाएँ बनाने में भी निपुण थे। श्री रामनरेश त्रिपाठी के शब्दों में—"भाषा की दृष्टि से तुलसीदास परम स्वतंत्र कवि थे। जहाँ उन्होंने जैसी आवश्यकता देखी, वहाँ वैसी क्रिया ढाल दी।" तुलसी ने तुकांत के लिए शब्दों के बहुत कम विकृत किया है और यदि कहीं शब्द तोड़े मरोड़े भी गए हैं तो भी उनका स्वरूप विकृत न हो सका। तुलसी ने नए शब्द भी गढ़े हैं पर उनसे दुरूहता कहीं नहीं आई। इस प्रकार तुलसी की भाषा में गुणों की बहुलता सी है। सर्वत्र हो सुमधुर, सरस, संगीतमय. सुकोमल, सजीव और सशक्त शब्दावली ही तुलसी की कृतियों में दृष्टिगोचर होती है। भाषा की दृष्टि से तुलसी की यह महान विशेषता है कि वे अवधी और व्रज दोनों में समान निपुणता से रचना कर सके हैं। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि न तो सूरदास का ही अवधी पर कुछ अधिकार था और न तो जायसी का ब्रजभाषा पर।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उनकी प्रबन्ध पटुता, रसव्यंजना, अलंकार, व्यंजना, तल्लीनता, भाषाभिव्यक्ति, वर्णन शैली और मनोहर भावव्यंजना आदि सभी काव्यगतविशेषताओं की सराहना करनी ही पड़ती है। रसव्यंजना के हेतु वे विभाव, अनुभाव, आलंबन, उद्दीपन आदि जुटाने नहीं बैठे थे वरन् स्वाभाविक ही उनकी रचनाओं में रसपयोधि उमड़ उठा है। तुलसी की

प्रतिभा सर्वतोमुखी थी तथा साधारण से साधारण भावों को भी उन्होंने जगमगा दिया है। उनकी काव्यकला की प्रशंसा तो पाश्चात्य विद्वानों ने भी मुक्तकंठ से की है तथा हिंदी काव्य-साहित्य में ही नहीं वरन् विश्वसाहित्य में उनका आदरणीय स्थान है। वस्तुतः 'हरिऔध' जी ने उचित ही लिखा है—

"कविता करके तुलसी न लसे, कविता लसी पा तुलसी की कला।"

———

६. 'सूर' पर एक समीक्षात्मक दृष्टि

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो सूरदास को हिंदी का आदि कवि कहना अनुचित न होगा। यद्यपि सूरदास के पूर्व हिंदी साहित्य में कई प्रसिद्ध प्रसिद्ध कवि हो चुके थे परन्तु हिंदी का प्रौढ़स्वरूप सर्व प्रथम इन्हीं के काव्य में दृष्टिगोचर होता है। कबीर आदि संत कवियों की कविताएँ जटिल और दुर्बोध होने से तथा सूर की सी व्यापकता न होने से उतना अधिक आदर न पा सकीं। सूर का कविता काल जो कि संवत १५६० से १६३० तक माना जाता है हिंदी का सौर काल कहलाता है और यही हिंदी का समृद्ध युग भी था। वल्लभ संप्रदाय के कवियों ने ब्रजवाणी में पियूष की अविरल धारा को प्रवाहित कर हिंदी की सर्वाङ्गीण उन्नति की है।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा की खोजरिपोर्ट में सूरदास के सोलह ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है।[1] परन्तु ये सब ग्रंथ सूरदास के ही नहीं माने जा सकते हैं। डा० मोतीचंद जी की

---

१. गोवर्धन लीला बड़ी, दशम स्कंध टीका, नागलीला, पद-संग्रह, प्राणप्यारी (श्याम सगाई), ब्याहलो, भागवत, सूरपचीसी, सूरदास, जी के पद, सूरसागर, सूरसागर सार, एकादशी माहात्म्य, राम-जनम, सूरसारावली, साहित्यलहरी और नल दमयंती।

खोज से यह तो सिद्ध हो चुका है कि नलदमयन्ती वास्तव में नल-दमन नामक सूफी प्रेमाख्यानक काव्य है जो कि सं० १६८५ में किसी अन्य सूरदास द्वारा लिखा गया है। शेष अन्य ग्रंथों में से कई तो सूरसागर के कुछ पदों का संग्रह मात्र ही है—जो कि भक्तों ने सुविधानुसार अलग-अलग कर लिए हैं। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि डा० जनार्दन मिश्र सूरदास के उन पदों को प्रक्षिप्त मानते हैं जो कि सूरजदास और सूरश्याम के नाम से लिखे गए हैं। इस प्रकार एकादशी महात्म्य और राम-जन्म नामक दो ग्रंथ जो कि सूरदास के नाम से मिलते हैं भी सूरदास के लिखे हुए नहीं माने जा सकते। ब्याहलो भी किसी अन्य सूरदास का लिखा हुआ माना जाता है। अब सूरसागर, सूरसारावली और साहित्य लहरी पर विचार किया जाय। सूर सारावली एक स्वतंत्र ग्रंथ न होकर सूरसागर की अनुक्रमणिका मात्र है और साहित्य लहरी भी सूरसागर से ही निकाली गई है। इस प्रकार सूरदास की अक्षय कीर्ति सूरसागर नामक एक ग्रंथ पर ही आधारित है और यही एक ग्रंथ सूर की महानता का द्योतक है। विचार पूर्वक देखा जाय तो सूरसागर स्वयं कई ग्रंथों का संग्रह मात्र कहा जा सकता है। यहाँ यह भी निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि सूरसागर का कितना अंश प्रक्षिप्त है क्योंकि डा० जनार्दन मिश्र ने सूरश्याम नाम के पदों को प्रक्षिप्त माना है परन्तु उन्होंने कुछ ऐसे प्रामाणिक तथ्यों को प्रस्तुत नहीं किया जिनके आधार पर हम इन पदों को प्रक्षिप्त ही कह सकें क्योंकि उन पदों में काव्य कला का निखरा हुआ स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। साथ ही यहाँ यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि सूरसागर के पदों की संख्या कितनी है क्योंकि किंवदंतियों के आधार पर पदों की संख्या सवालाख तक मानी जाती है। यदि सूर सारावली

के निम्नांकित पद को प्रक्षिप्त नहीं माना जाय तो सूर ने स्वय कहा है—

श्री वल्लभ गुरु-तत्व सुनायो लीला भेद बतायो।
ता दिन ते हरि लीला गाई एक लक्षपद बंद ।।
ताको सार सूर सारावलि गावत परमानंद।

इस पद से तो यही ज्ञात होता है कि सूर ने कृष्ण लीला संबंधी एक लाख पद बनाये अतः सवालाख पद वाली बात निश्चय ही किंवदंती मात्र है परन्तु प्रस्तुत पद की प्रमाणिकता भी संदेहास्पद ही है। श्री० राधाकृष्ण दास जी ने 'सूरसागर की भूमिका' पृष्ठ २ में लिखा है—"सूरदास जी के सवा लक्ष पद बनाने की जो किंवदंती प्रसिद्ध है वह ठीक विदित होती है क्योंकि एक लाख पद तो श्री० वल्लभाचार्य जी के शिष्य होने के उपरान्त और सारावली के समाप्त होने तक बनाये इसके आगे पीछे अलग रहे।" परन्तु राधाकृष्ण दास जी ने यह बात किंवदंतियों के ही आधार पर लिखी है। 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता में लिखा है —"सूरदास जी ने सहस्त्रावधि पद कीये हैं ताको सागर कहियै सो सब जगत में प्रसिद्ध भये।" यदि सूर ने वास्तव में एक लाख पदों की रचना की होती तो वार्ताकार यहाँ 'सहस्त्रावधि' के स्थान पर 'लक्षावधि' लिख सकता था। 'सहस्त्रावधि' से यह कहा जा सकता है कि सूर ने हजारों की संख्या में पद बनाये पर ठीक-ठीक संख्या यहाँ भी नहीं कही गई। 'शिवसिंह सरोज' के लेखक ने लिखा है कि उन्होंने साठ हजार पद देखे थे पर कहाँ देखे थे इसका कुछ उल्लेख नहीं है। अतः जैसा कि बाबू श्यामसुंदर दास जी ने लिखा है—"सूरसागर के संबंध में कहा जाता है कि उसमें सवालाख पदों का संग्रह है पर अब तक सूरसागर की जो प्रतियाँ मिली हैं उनमें छः हजार से अधिक पद नहीं मिलते"; वह युक्ति संगत ही प्रतीत होता है।

चूंकि सूरसागर और श्रीमद्भागवत दोनों में ही बारह स्कंध हैं तथा प्रत्येक स्कंधों की कथाओं में भी समानता है और साथ ही सूर सागर की जो हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं उनमें भी कथा श्रीमद्भागवत की ही भाँति स्कंधों में विभाजित है अतः सूरसागर को श्रीमद्भागवत का अनुवाद मात्र कहा जाता है। सूर ने स्वयं लिखा है—

श्री मुख चारि श्लोक दिये ब्रह्मा को समुझाइ।
ब्रह्मा नारद सों कहे नारद व्यास सुनाइ॥
व्यास कहें शुकदेव सो द्वादश स्कंध बनाइ।
सूरदास सोई कहै पद भाषा कर गाइ॥

डा० धीरेन्द्र वर्मा ने भी श्रीमद्भागवत और सूर सागर की तुलना करते हुए अंत में यही निष्कर्ष निकाला है कि—"वर्तमान सूरसागर एक ग्रंथ नहीं है बल्कि सूरदास की प्रायः समस्त कृतियों का संग्रह है और इसका मूल ढाँचा वास्तव में भागवत के बारह स्कंधों का अत्यंत संक्षिप्त अनुवाद मात्र है।"[1] परन्तु सूरसागर को भागवत का अनुवाद मात्र कहना सूर के प्रति अन्याय सा करना है। भागवत के प्रत्येक स्कंध में से बहुत ही कम सामग्री सूर ने ग्रहण की है तथा राम और कृष्ण के अतिरिक्त अन्य अवतारों का बहुत संक्षेप में बल्कि नाममात्र के लिए वर्णन किया है। सूरसागर में मौलिक कल्पना भी देख पड़ती है और प्रथम स्कंध के विनय सम्बन्धी पद तो निश्चित रूप से मौलिक ही हैं।

पं० चंद्रबली पांडे सूरसागर को 'खंडात्मक प्रबन्ध काव्य' मानते हैं। उनका कहना है कि—"सूरसागर में जो 'दूसरी लीला' कही जाती है उनको यदि एकत्र किया जाय तो 'सूरसागर' एक खासा प्रबन्ध काव्य बन जाय और उसका रूप बहुत कुछ उस रूप

---

१. डा० धीरेन्द्र वर्मा—भागवत और सूरदास (हिंदुस्तानी अप्रेल १९३४)

में प्रस्तुत हो जाय जिस रूप में 'पद्मावत' है।"[२] पांडे जी सूर-सागर को 'भाव-प्रबन्ध-काव्य' न मानकर 'लीला-प्रबन्ध-काव्य' या 'भाव-प्रबन्ध-काव्य मानते हैं। परन्तु हमारी समझ में सूरसागर को मुक्तक काव्य मानना ही उचित है।

भाषा के विचार से सूरदास प्रथम कवि हैं जिन्होंने ब्रजभाषा को साहित्यिक रूप प्रदान किया। चंद की भाषा में भी ब्रजभाषा की झलक दृष्टिगोचर होती है और कबीर आदि संतों के पदों की भाषा भी ब्रजभाषा ही है परन्तु भाषा-सौष्ठव के दृष्टिकोण से सूरदास ही ब्रजभाषा के उत्कृष्ट कवि माने जा सकते हैं। चूँकि चौरासी वैष्णवों की वार्ता और दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता के रचियताओं का उद्देश्य धर्म प्रचार मात्र था अतः उनमें साहित्यिक सौंदर्य का अभाव ही है। सूर ने संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग प्रचुरता से किया है और इस प्रकार भाषा सर्व-मान्य साहित्यिक भाषा बन सकी है।

सूर ने शब्द योजना पर विशेष ध्यान दिया है और प्रसंगानु-कूल भाषा ही लिखी है। उनकी भाषा भावानुगामिनी ही है। सूर की भाषा सरल, सुबोध और सशक्त होते हुए भी उसमें तत्सम, तद्भव और ठेठ शब्दों के साथ साथ विदेशी शब्दों का प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है। जहाँ कि इहवां, मोर, तोर, हमार कौन आदि शब्दों को उन्होंने अपनाया है वहाँ फारसी के खसम, जवाब, खवास, सरताज, दामनगीर आदि बहुत से शब्दों को भी निस्संकोच ग्रहण किया है। पंजाबी का प्यारी जो कि मूल्यवान के अर्थ में प्रयुक्त होता है, गुजराती का वियो, बुन्देलखण्डी के गहिबी, सहिबी और प्राकृत के सायर आदि शब्द भी उनकी भाषा में दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रकार ब्रजभाषा को व्यापक बनाने के

२. पं० चंद्रबली पांडे—हिंदी कवि चर्चा (पृष्ठ २०६)

लिए उन्होंने अन्य सहयोगिनी भाषाओं के शब्दों को भी ग्रहण किया है।

सूर की भाषा प्रवाहमयी है और उसमें माधुर्य और प्रसाद गुण विशेष रूप से देख पड़ते हैं। कंस वध या ऐसी ही एक दो घटनाओं में ओजगुण का समावेश है नहीं तो सर्वथा ही माधुर्य और प्रसाद गुण की अधिकता है। माधुर्यमयी प्रवाहपूर्ण भाषा का एक उदाहरण देखिए—

चलौ किन मानिन कुंज कुटीर।
तुव बिन कुंवर कोटि वनिता तजि सहत बदन की पीर॥
गद् गद् सुर पुलकित विरहानल नैन विलोकत नीर।
क्वासि क्वासि वृषभानु कुमारी विलपत विपिन अधीर॥
मलयज गरल हुतासन मारुत शाखा मृग रिपु वीर।
हिय में हरषि प्रेम अति आतुर चतुर चलहु पिय तीर॥

सूर अलंकार व्यंजना में भी पूर्ण सफल रहे हैं तथा शब्दालंकारों और अर्थालंकारों दोनों के प्रयोग में उन्हें सफलता प्राप्त हुई है। सूर की भाषा में अलंकारों की योजना स्वाभाविक ही है; कवि को अलंकारों की अभिव्यंजना में परिश्रम नहीं करना पड़ा।

'विलसत विपिन विलास विविध वर वारिज बदन विकच सचुपाये'

सी अनुप्रास युक्त पंक्तियों की अधिकता सी है। दृष्टिकूट संबंधी पदों में उन्होंने यमकालंकार का बहुत अधिक प्रयोग किया है तथा राधा और कृष्ण के सौन्दर्य की रहस्यात्मक व्यंजना में भी उससे सहायता ली है। एक उदाहरण देखिए—

हरि सम आनन हरि सम लोचन हरि तह हरिवर आगी।
हरिहि चाहि हरि न सोहावए हरि हरि कए उठि जागी॥

सूर ने अर्थालंकारों का अत्याधिक प्रयोग किया है और

उसमें भी उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा और प्रतीप नामक सादृश्य मूलक अलंकारों का तथा स्मरण और संदेह नामक स्मृति मूलक अलंकारों का प्रयोग बहुलता से मिलता है। वक्रोक्ति और विभावना नामक विरोध मूलक अलंकारों का प्रयोग प्रायः कम ही किया गया है।

सूर का सबसे प्रिय अलंकार रूपक ही है और उसकी ही अधिकता सूर सागर में दृष्टिगोचर होती है। तुलसी के ही सदृश्य सांगरूपक का प्रयोग करने में वे सिद्ध हस्त थे। सांगरूपक की सहायता से उन्होंने विभाव चित्रण किया है तथा संयोग और वियोग के वर्णन भी किए हैं। एक उदाहरण देखिए—

देखो माई सुन्दरता को सागर।
बुधि विवेक बल पार न पावत, मगन होत मन नागर॥
तनु अति स्याम अगाध अंबुनिधि कटिपत पीत तरंग।
चितवत चलत अधिक रुचि उपजत भँवर परत अँग अँग॥
मीन नैन मकराकृत कुंडल भुजबल सुभग भुजंग।
मुकुतमाल मिलि मानो सुरसरि द्वै सरिता लिये संग॥

संयोग श्रृंगार में उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा की ही अधिकता है। राधा कृष्ण के नेत्रों के संबंध में तो कवि ने नूतन-नूतन उत्प्रेक्षाएँ की हैं। उत्प्रेक्षा का एक सुंदर उदाहरण देखिए—

नील स्वेत पर पीत लाल मनि लटकन माल सनाई।
सनि, गुरु, असुर, देवगुरु, मिलि मानो भौम सहित समुदाई॥

सूर ने मुहावरों और लोकोक्तियों का भी प्रयोग किया है तथा 'ट' वर्ण को भी प्रसंगानुसार अपना कर उसमें भी मधुरिमा ला दी है लाक्षणीकता तथा ध्वन्यात्मकता भी दर्शनीय है। निम्नांकित पंक्तियों में ध्वन्यात्मक शब्दों ने सूर की भाषा को सजीव सा बना दिया है—

तरपत नभ डरपत, ब्रजलोग ।

घहरात, तरराात, गरगरात, हहरात, झहरात, पर‍रात माथ नाये ।

सूर की भाषा में दोषों का अभाव सा है। कहीं-कहीं दुरूह अवश्य हो गई है और जैसा कि हम कह चुके हैं सूर ने विदेशी शब्दों को भी ग्रहण किया है। फारसी शब्दों के तद्भव रूपों को ही प्रयुक्त करने से भाषा में अस्वाभाविकता न आ सकी। तुकान्त के लिए अथवा छंदों की गति को नियमानुकूल रखने के हेतु कुछ शब्दों को उन्होंने विकृत भी कर दिया है जैसे पंगु को पङ्ग, नवनीत को लवनी, वर्ष को बरीस, गमन को गैन आदि। परन्तु सब प्रकार से विचार करने पर यही विदित होता है कि सूर की भाषा सबल, सजीव और सरस है।

यह तो सर्व विदित ही है कि श्री वल्लभाचार्य की आज्ञा से सूर ने भागवत की कथा को पदों में गाया। कहते हैं कि सूर ने वल्लभाचार्य जी को पहले प्रार्थना संबंधी एक दो पद सुनाए तब खीझकर गोसाईं जी ने कहा—"सूर ह्वै के ऐसो घिघियात काहे को है, कछु भगवतलीला वर्णन करि।" तब सूर ने श्री कृष्ण लीला गाई। सूर के श्री कृष्ण लीला पुरुष हैं और सूरसागर के दशम स्कंध की समस्त लीलाएँ उन्हीं से संबंधित हैं। सूरसागर का दशम स्कंध अपेक्षाकृत अन्य स्कंधों से बहुत अधिक विस्तृत है तथा उसमें उच्चकोटि का कवित्व है और इस स्कंध में कृष्ण का ही चित्रण हुआ है। जैसा कि डा० रामरतन भटनागर और श्री वाचस्पति त्रिपाठी ने लिखा है—"समस्त सूर सागर का अध्ययन करने पर कृष्ण का चरित्र हमारे सामने निम्नांकित रूपों में आता है।

(१) अत्यंत मुखर बालक के रूप में।

(२) चंचल किशोर के रूप में।

(३) किशोर प्रेमी के रूप में।

(४) क्रीड़ा कौतुक प्रिय सखा के रूप में।

(५) तरुण नायक के रूप में।

(६) अति प्राकृत अलौकिक सत्ता के रूप में जो अनेक आश्चर्यमय लीलाएँ करती है, जो भक्तों की रक्षा करती है।

(७) गौरव गम्भीर महाराज के रूप में।[१]

यहाँ सूर की राधा के विषय में भी कुछ कहना असंगत न होगा। सूर की राधा चंडीदास की राधा की तरह न तो परकीया ही है और न विद्यापति की राधा की तरह प्रेयसी ही है। वह एक साधारण या असाधारण गोपी भी नहीं है बल्कि कृष्ण की पत्नी है और नायिका भेद के अनुसार वह स्वकीया ही मानी जावेंगी। डा० रामरतन भटनागर और श्री वाचस्पति त्रिपाठी के शब्दों में—"उन्होंने जयदेव, विद्यापति और चंडीदास की तरह राधिका को प्रथम से ही वय-प्राप्त, यौवन-प्राप्त अथवा प्रेयसी के रूप में चित्रित नहीं किया। उन्होंने कुमार-कुमारी के असंकोची मिलन से प्रारम्भ करके स्नेह के अंकुर को अंत में प्रेम के रूप में परिणत किया है।"[२]

साधारणतः सूरदास जी के पदों को निम्नाकित, पाँच भागों में विभाजित किया जा सकता है विनय के पद, बाललीला के पद, सौंदर्य वर्णन सन्बन्धी पद, मुरली विषयक पद और भ्रमरगीत। विनय के पद सूर की भक्ति भावना का परिचय देते हैं। ईश्वर के अन्य अवतारों का भी यद्यपि सूर ने वर्णन किया है पर

---

१. दे०—सूर साहित्य की भूमिका—पृष्ठ ८६

२. दे०—सूर साहित्य की भूमिका—पृष्ठ ९१

कृष्ण की ओर उनका विशेष मोह है और इस प्रकार कृष्ण भक्ति शाखा के वे सर्वप्रधान कवि हैं। सूर की भक्ति भावना संकीर्ण नहीं है और राम तथा कृष्ण में और शिव तथा श्याम में उन्होंने कुछ विशेष अंतर नहीं माना है। शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर सूर की भक्ति विनय और सख्य कही जा सकती है। विनय के पदों में वैष्णव संप्रदाय की दीनता, मान-मर्षणता, भय दर्शन, भर्त्सना, आश्वासन, और विनय के विचारण नामक सात प्रकारों का पूर्णरूप से वर्णन किया गया है।

वल्लभाचार्य की भक्ति पद्धति में लीला, कीर्तन आदि को ही प्रधानता थी और सखा भाव से ही कृष्ण की उपासना की जाती थी अतः दास्यभाव की ओर स्वाभाविक ही उनकी रुचि न थी। सूर सागर में भी इसी से सख्य-भक्ति की भावना दृष्टिगोचर होती है और उसमें वह दो रूपों में वर्णन को गई है। प्रथम तो सूरसागर सखा भाव से ही गाया गया है और भक्त भगवान की प्रत्येक लीला में भाग लेता सा दृष्टिगोचर होता है और दूसरे गोप-ग्वालाओं और कृष्ण-प्रसंग में भी सख्य भक्ति की भावना झलक उठती है। सूरसागर में नवधा भक्ति के सम्पूर्ण अंग भी दृष्टिगोचर होते हैं और डा० रामकुमार वर्मा ने 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में सूरसागर की कृष्णलीला को आसक्ति के प्रकार भेदों की दृष्टि से विभाजित भी किया है।[१] सूर की भक्ति भावना में मौलिकता भी है और वात्सल्य भाव की भक्ति, माधुर्यभाव की भक्ति तथा सगुण रहस्यात्मक भक्ति सर्वप्रथम सूरसागर में ही दृष्टिगोचर होती हैं। सगुणोपासना का समर्थन सूरदास इस प्रकार करते हैं—

---

१. दे०—हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—पृष्ठ ६०१

अविगति गति कछु कहत न आवै ।
ज्यों गूँगे मीठे फल को चख, अंतर गत ही भावै ॥
मन-बानी को अगम अगोचर, सो जानै, जो पावै ।
रूप-रेख, गुन, जाति, जुगुति बिनु, निरालंब मन धावै ॥
सब विधि अगम बिचारहिं, ताते सूर सगुन पद गावै ॥

कवियों के लिए बाललीला वास्तव में वर्णननीय विषय है। महात्मा ईसा का कथन है— Suffer little children to come unto me for such is the Kingdom of Heaven अर्थात् छोटे छोटे बच्चों को हमारे पास आने दो क्योंकि स्वर्ग का राज्य ही ऐसा है। वास्तव में यदि कहीं सरलता और पवित्रता है तो शिशु में ही है। विश्व के सभी प्रसिद्ध कवियों और चित्रकारों ने शैशव लीला का वर्णन किया है। महाकवि होमर ने अपने 'आडेसी' नामक काव्य में शिशु यूलियस का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। परन्तु सूर का बालवर्णन इन सबसे अद्वितीय है। श्रीकृष्ण के बालरूप का वर्णन करते समय सूर ने मुख, नेत्र, भुजा, रोमावली, केश आदि सभी का सुन्दर चित्रण किया है। कृष्ण के केश विन्यास और आभूषणों का भी मनोहर वर्णन किया गया है। एक उदाहरण देखिए—

लाल हौं वारी तेरे मुख पर ।
कुटिल अलक मोहन मन विहँसत, भृकुटि विकट नैननि पर ॥
दमकति द्वै-द्वै दँतुलियाँ विहँसति मनु, सीपिज घर किय वारिज पर ।
लघुलघु लटशिर घूँघरवारी लटकि लटकि रह्यो लिलार पर ॥
लोचन लोल कपोल ललित अति नासिक को मुक्ता रद छद पर ।
सूर कहा न्योछावरि करियै अपने लाल ललित लर ऊपर ॥

माता अपने पुत्र को बड़ा प्यार करती है। पुत्र के सुख की

चिंता तथा शंका ही जननी के मानस की वात्सल्य भावना है। शेक्सपियर ने कहा भी है—

Where Love is great, the littlest doubts are
Fears;
Where little fears grow great, great love is
there.

सूर ने जननी की मानसिक भावानाओं का बड़ा ही सजीव वर्णन किया है। हृदय की अव्यक्त भावनाओं को मूर्तिमान स्वरूप प्रदान करने में उन्हें अद्वितीय सफलता मिली है। यशोदा अपने बालकृष्ण को इस प्रकार मना रही है—

काहे को आरि करत मेरे मोहन ! यों तुम आँगन लोटी ?
जो माँगहु सो देहुँ मनोहर, यहै बात तेरी खोटी ॥
सूरदास को ठाकुर ठाढ़ो, हाथ लकुट लिए छोटी ॥

सूर के वात्सल्य वर्णन की समता तुलसी भी नहीं कर सके। राम चरित मानस के वात्सल्य वर्णन का एक उदाहरण देखिए—

कौसल्या जब बोलन जाई। ठुमकि ठुमकि प्रभु चलहिं पराई।
धूसर धूरि भरे तनु आए। भूपति विहँसि गोद बैठाए ॥
भोजन करत चपल चित, इत उत अवसर पाइ।
भाजि चलैं किलकात मुख, दधि-ओदन लपटाइ ॥

वात्सल्य के समान ही शृंगार वर्णन में भी सूर को अद्वितीय सफलता मिली है। शृंगार के अंतर्गत संयोग और वियोग दोनों पक्षों का सूर ने वर्णन किया है। रूप वर्णन में भी वे पूर्ण सफल रहे हैं। कृष्ण के कपोल, मुख, नेत्र, पुतली, अधर, वक्षस्थल पर शोभायमान कमल माला, चंचल दृष्टि, लोल कुंडल आदि का वर्णन कवि ने कलापूर्ण किया है। राधा के रूप वर्णन में भी वे सफल रहे हैं और रूपकतिशयोक्ति वाले पद तो अत्यंत प्रसिद्ध

हैं। सूरसागर में संयोग शृंगार का अत्यंत व्यापक वर्णन दृष्टि-गोचर होता है। राधा और कृष्ण के परस्पर आकर्षण का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

चितै रही राधा हरि को मुख।

भृकुटि विकट विशाल नयन युग देखतर मनहि भयो रति पति दुख
उतहि श्याम एक टक प्यारी छबि अंग अंग अवलोकत।
रीझि रहे उत हरि इत राधा अरस परस दोउ नोकत॥

सखिन कह्यो बृषभानु सुता सों देखे कुँवर कन्हाई।
सूरश्याम ऐई हैं ब्रज में जिनकी होति बड़ाई॥

सूर ने शृंगार संबंधी अनेक प्रसंगों का उल्लेख किया है और कुंज बिहार, यमुना स्नान, जल कीड़ा, हिंडोला बिहार तथा रास लीला आदि जितने भी संयोग शृंगार संबंधी क्रीड़ा विधान हो सकते थे उन्होंने सभी का वर्णन किया है। बहिर्जगत और अंतः जगत दोनों का सौंदर्य वर्णन वे कुशलता से कर सके हैं। प्राकृतिक दृश्यों का भी उन्होंने मनोमुग्धकारी वर्णन किया है। जैसा कि श्री० मुंशीराम शर्मा 'सोम' एम० ए० ने लिखा है, सूर ने प्रकृति का वर्णन निम्नांकित रूपों में किया है—

(१) प्रकृति का विषयात्मक चित्रण।
(२) प्रकृति का अलंकृत चित्रण।
(३) कोमल और भयंकर रूप।
(४) प्रकृति मानव-क्रिया कलाप की पृष्ठ भूमि।
(५) अलंकारों के रूप में प्राकृतिक दृश्यों का प्रयोग।[१]

संयोग शृंगार की भाँति विप्रलंभ शृंगार में भी व्यापकता एवं गंभीरता दृष्टिगोचर होती है। वियोग शृंगार का वर्णन सूर ने

---

१. दे०—सूर सौरभ— पृष्ठ ४४८

बड़ा ही हृदयग्राही किया है। आचार्य शुक्ल जी के शब्दानुसार-- "सूर सागर का सबसे मर्मस्पर्शी और वाग्वैदग्ध्यपूर्ण अंश 'भ्रमरगीत' है जिसमें गोपियों की वचन वक्रता अत्यंत मनोहारिणी है।"[१] डा० रामकुमार वर्मा ने भी उचित ही लिखा है— "सूरदास ने मानव हृदय के भीतर जाकर वियोग और करुणा के जितने भाव हो सकते हैं, उन्हें अपनी कुशल लेखनी से ऐसे अंकित कर दिए हैं कि वे अमर हो गए हैं। प्रत्येक भाव में ऐसी स्पष्टता है, मानो हम उन्हें स्वयं अनुभव कर रहे हैं। किसी भाव में आह की ज्वाला है, किसी में वेदना के आँसू और किसी में विदग्धता का कम्पन। हृदय की भावना अनेक रूप से व्यक्त होती है। एक ही भावना का अनेकों बार चित्रण होता है—नये नये रंगों से—और उनमें हृदय को व्यथित करने की शक्ति बराबर बढ़ती जाती है। ऐसा ज्ञात होता है मानो प्रत्येक पद एक गोपी है जिसमें वियोग की भीषण अग्नि धधक रही है।"[२]

वियोगावस्था का वर्णन सूर ने बड़े ही कलात्मक ढंग से किया है। भ्रमरगीत में विरह सागर उमड़ सा उठा है। कल्पना और भावुकता का मणिकांचनमय योग सूर के इन पदों में पाया जाता है। उद्धव के हाथ से श्याम की पाती राधिका ने अपने हाथों में ली और अश्रुओं के प्रवाहित होने से स्याही फैल जाने से सम्पूर्ण पत्री श्याम हो गई—

> निरखत अंग श्यामसुंदर के बार-बार लावति छाती।
> लोचन-जल-कागद-मसि मिलिकै ह्वै गइ स्याम स्याम की पाती।

संयोगावस्था में जो वस्तुएँ सुख दायिनी प्रतीत होती हैं, वियोग में ही दुःखदायिनी बन जाती हैं। यही पावस ऋतु जो

---

१. दे०—हिंदी साहित्य का इतिहास— (पृष्ठ १७२)
२. दे०—हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (पृष्ठ ६३४-६३५)

किसी समय उन्हें सुख प्रदान करती थी अब विरहोन्माद में ये ही वारिद खंड आक्रान्ता के रूप में दृष्टिगोचर हो रहे हैं—

देखियत चहुँ दिशि ते धन घोरे ।
मानों मत्त मदन के हथियन बल करि बन्धन तोरे ॥
श्याम सुभग तनु, चुअत गराउ मद, बरसत थोरे थोरे ।
रुकत न पौन महावत हू पै मुरत न अंकुस मोरे ॥
बिनु बेला जल निकसि नयन तें कुच कंचुकि बँद बोरे ।
मनों निकस बग पाँति दाँत उर अवधि सरोवर फोरे ॥
तब तेहि समय आनि ऐरापति ब्रजपति सों कर जोरे ।
अब सुनि सूर कान्ह केहरि बिनु गरत गात जैसे ओरे ॥

परन्तु प्रिय के साथ कुछ रूप-साम्य होने के कारण वे ही मेघ कभी प्रिय भी लगने लगते हैं—

आजु घन स्याम की अनुहारि ।
उनै आए साँवरे ते सजनी ! देखि, रूप की आरि ॥
इन्द्रधनुष मनो नवल वसन छबि, दामिनि दसन बिचारि ।
जन बग-पाँति माल मोतिन की, चितवत हितहि निहारि ॥

भ्रमर गीत की महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि सूर ने इसमें साकार उपासना का बड़े ही मर्मस्पर्शी ढंग पर समर्थन किया है । सगुण निर्गुण का यह प्रसंग भी सूर की मौलिकता का द्योतक है । निर्गुण पंथियों के उस बढ़ते हुए प्रवाह को अवरुद्ध करने के हेतु सूर ने भ्रमरगीत के अंतर्गत इस प्रसंग का भी समावेश किया है । उद्धव निर्गुण की उपासना पर जोर देते हैं जब कि गोपियाँ सगुणोपासना को महत्वपूर्ण मानती हैं । गोपियाँ कहती हैं जब कि सुमेरु प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर होता है तब उसे तिनके की ओट में छिपाने का प्रयत्न व्यर्थ ही है—

सुनि है कथा कौन निर्गुन की, रचि रचि बात बनावत।
सगुन सुमेरु प्रगट देखियत, तुम तृन की ओट दुरावत ॥

निराकार की नीरसता और साकारोपासना की सरसता को अपने मानसिक अनुभव के रूप में गोपियाँ उद्धव के सामने प्रस्तुत करती हैं—

ऊनो कर्म कियो मातुल बधि मदिरा-मत्त प्रमाद।
सूरस्याम एते अवगुन में निर्गुन तें अति स्वाद ॥

उद्धव अपना उपदेश देते ही जा रहे हैं कि बीच ही में कोयल बोल उठती है। गोपियाँ तुरन्त ही उद्धव से कहती हैं कि तुम तो हमें भस्म रमाने को कह रहे हो उधर प्रकृति की दशा क्या है यह भी तो देखो—

ऊधो ! कोकिल कूजत कानन।
तुम हमको उपदेस करत हो भस्म लगावन आनन ॥

सूर की रस व्यंजना भी अनुपम थी और जहाँ शृंगार, करुणा, हास्य और वात्सल्य का उन्होंने वर्णन किया है वहाँ भयानक, वीर और अद्भुत का भी किया है। यद्यपि इन रसों की व्यंजना थोड़े से ही स्थलों पर की गई है पर वे ही उनकी कुशल रस व्यंजना के परिचायक हैं। अद्भुत रस का एक उदाहरण देखिए—

अखिल बृह्माण्ड खण्ड की महिमा दिखरायो मुख माहीं।
सिन्धु, सुमेरु, नदी, बन, पर्वत चकृत भई मन माहीं ॥

यह तो निर्विवाद ही है कि सूर ने जो कुछ लिखा है राग में लिखा है। श्री शिखरचन्द्र जैन के शब्दों में—"संगीत विषयक इस ज्ञान की कसौटी पर जब सूर कसे जाते हैं, तब वह बहुत ऊँचे उठ जाते हैं और उनका सच्चा मूल्य आँका जा सकता है। वास्तव में यदि काव्य और संगीत का सच्चा समन्वय कोई प्रकृत रूप से कर

सका है तो वह सूर ही हैं।"[१] परन्तु सूरसागर में छन्दों की विविधता भी दृष्टिगोचर होती है और राग के ही अन्तर्गत कवित्त, छप्पय, रोला और चौपाई आदि छन्द भी सूर ने अपनाए हैं और इस प्रकार भावपक्ष के साथ साथ उनका कला पक्ष भी निखरा हुआ है।

सूर ने संयोग शृंगार का वर्णन करते समय कहीं कहीं रति वर्णन भी किया है जिससे कुछ विद्वानों ने सूर के काव्य में अश्लीलता का दोष लगाया है पर यह अनुचित ही है। सूर के काव्य में अश्लीलता युक्त कुरुचि उत्पादक पदों की अधिकता नहीं है बल्कि वास्तविकता तो यह है कि उनका सा सुंदर शृंगार वर्णन अन्य कवि न कर सके। पं० चन्द्रबली पांडे ने उचित ही लिखा है—"सूर की कविता, कविता नहीं, हृदय की झंकार है।"[२]

---

१. दे०—सूर: एक अध्ययन पृष्ठ ३७

२. दे०—हिंदी कवि चर्चा पृष्ठ २६३

७. सेनापति का प्रकृति-प्रेम और ऋतु-वर्णन

भाव-व्यजना करते समय कवि को अनेक साधनों से सहायता लेनी पड़ती है जिनमें से कुछ ऐसे होते हैं जो उसमें रमणीयता का आविर्भाव करते हैं और कुछ ऐसे होते हैं जो कि भावों की अभिव्यक्ति में स्वाभाविकता लाते हैं परन्तु कुछ ऐसे अनिवार्य साधन भी होते हैं जिनके बिना रसव्यंजना हो ही नहीं सकती। बाह्य दृश्यों का चित्रण भी भावव्यंजना का इसी प्रकार का महत्वपूर्ण साधन है। काव्य में कुछ बाह्यदृश्यों का चित्रण अनिवार्य होता है। जैसे आलम्बन के स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण। जिन रसों में आलंबन का विशेष महत्व होता है उन्हें आलंबन प्रधान रस कहा जाता है अतः जब कवि ऐसे रसों की व्यंजना करता है तब उसके लिए आलंबनों के स्वरूपों का कल्पना द्वारा निरीक्षण कर अपनी काव्य कला कुशलता से पाठकों को उनका प्रत्यक्षीकरण कराना आवश्यक हो जाता है। यह कार्य कवि द्वारा तभी संभव हो सकता है जबकि उसमें चित्रकार की सी कुशलता हो। कवि के लिए यह भी आवश्यक है कि उसमें बाह्य तथा अन्तर्दृष्टि भी हो जिनकी सहायता से वह इन दृश्यों का कुशलता से निरीक्षण कर सके। कुशल कवि प्रत्यक्षीकरण कराते समय प्रत्यक्ष की हुई वस्तु की उन्हीं महत्वपूर्ण विशेषताओं को चित्रित करता है। जिनसे कि चित्रण कलापूर्ण हो सके। सेनापति जी में यह कुशलता पूर्ण रूप से विद्यमान थी अतएव

बाह्य दृश्यों का चित्रण उन्होंने बड़ा ही हृदयग्राही किया है और इन दृश्यों का निरीक्षण बड़ी ही सूक्ष्मता के साथ करते हुए उनका प्रत्यक्षीकरण बड़े ही कलापूर्ण ढंग से किया है। उनके चित्र पूर्ण और स्पष्ट हो सके हैं तथा उनकी भावुकता और सहृदयता के संयोग से भावोपयोगी भी हो सके हैं।

भावों को उद्दीप्त करने के हेतु जिन दृश्यों को अंकित किया जाता है उन्हें उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत लिया जाता है इन उद्दीपन विभावों के अन्तर्गत उपवन, पुष्प, लताएँ, सुधाकर, ज्योत्सना, षट्ऋतु आदि प्राकृतिक जगत के कार्य-व्यापार या दृश्य आते हैं। इस परंपरागत परिपाटी से अनुमान किया जा सकता है कि भारतीय काव्य-दृष्टि सर्वदा ही प्रकृति-सौंदर्य से प्रभावित होती रही है; अतः स्वाभाविक ही हमारा अप्रस्तुत विधान भी प्राकृतिक दृश्यों से ही प्रभावित होता रहा है। सरिता, सरोज, सरोवर, लतिकाएँ विद्युत, गगन, वारिद, मयंक आदि सर्वदा ही अप्रस्तुत विधान के लिए आते रहे हैं। यद्यपि प्राचीन हिन्दी कवियों ने संस्कृत कवियों के सदृश्य प्रकृति वर्णन नहीं किया है पर तु यह अवश्य है कि प्रकृति की रमणीयता से वे भी सर्वदा प्रभावित होते रहे हैं। उन हिन्दी कवियों ने तो

१.—वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति के प्रकृतिवर्णन में सूक्ष्माति सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण ही पाया जाता है परन्तु हिंदी कवियों में प्रकृति पर्यवेक्षण के प्रति उतनी अधिक भावुकता न थी। वाल्मीकि के वर्षावर्णन की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

क्वचित्प्रकाशं क्वचिदप्रकाशं,
नभः प्रकीर्णाम्बुघनं विभाति।
क्वचित् क्वचित्पर्वत-संनिरुद्धं,
रूपं यथा शान्तमहार्णवस्य॥

उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत ही प्रकृति के विस्तृत सौन्दर्य का वर्णन किया है। वन, उपवन, सरोवर, षट्ऋतु आदि अप्रस्तुत विधान के लिए सर्वदा ही आते रहे हैं और इस प्रकार प्राकृतिक उपमानों की परम्परा हिन्दी कवियों द्वारा बहुत समय तक ग्रहण की जाती रही। इस संकुचित दृष्टिकोण के कारण प्राचीन हिंदी कवियों ने प्राकृतिक दृश्यों का स्वतंत्र वर्णन कहीं नहीं किया है—बहुत थोड़े से उँगलियों पर गिने जाने लायक उदाहरण ही स्वच्छन्द प्रकृति-चित्रण के मिलते हैं—और आगे चलकर तो गीति-ग्रंथों के तंग कटघरे में इन कवियों का रहा-सहा प्रकृति प्रेम भी सड़-सड़ कर कलुषित सा होता गया। इसका एक कारण यह भी कहा जा सकता है कि इन कवियों की रुचि भी प्रकृति की ओर अधिक नहीं थी। भक्तिकालीन कवियों का ध्यान जहाँ पीताम्बरधारी कृष्ण को देखकर नीले नीले वारिद खण्डों की ओर जाता रहा जिनके कि अंक में पीतकांतवाली दामिनी क्रीड़ा करती रहती वहाँ आगे चलकर कवियों की दृष्टि में कोकिला यदि बोलती थी तो नायिका को प्रियतम का स्मरण कराने के लिए; विकसित पलाश के पुष्प अंगारों के सदृश्य प्रतीत होते थे और इसी प्रकार शीतल समीर, चंद्र, ज्योत्सना मेघ तथा

व्याभिश्रितं सर्जकदम्ब - पुष्पै—
नवं जलं पर्वत-धातु ताम्रम्।
मयूर केकाभिरनु प्रयातं,
शैलापगाः शीघ्रतरं वहन्ति ॥

इसी प्रकार 'कालिदास' ने 'रघुवंश' के नवम सर्ग में वसन्त का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। एक उदाहरण देखिए—

श्रुति सुखभ्रमर स्वनगीतयः कुसुम कोमल दन्तरुचो बभुः।
उपवमान्तलताः पवमाहतैः किसलयैः मलयैरिव पाणिभिः ॥

विभिन्न ऋतुओं के स्थूलस्वरूपों का ही चित्रण होता रहा और वह भी नायक-नायिका के मनोभावों को उद्दीप्त करने की दृष्टि से। कवियों के इस दृष्टि संकोच ने ही प्रकृति को केवल उद्दीपन विभावों में ही स्थान प्रदान किया और उसके स्वतंत्र महत्व को वे समझ ही न सके।

यह तो हम लिख ही चुके हैं कि ऋतुओं की गणना भी अप्रस्तुत विधान के लिए की जाती रही है तथा प्राचीन हिन्दी कवियों ने ऋतु वर्णन में ही प्राकृतिक सौंदर्य का भी उत्कृष्ट चित्रण किया है। भारत में वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त और शिशिर नामक छः प्रकार की ऋतुएँ होती हैं इन ऋतुओं में प्राकृतिक सौंदर्य में नवीनता सी आ जा है। प्राचीन हिंदी कवियों के ऋतुवर्णनों में कल्पना और भावुक..ा के साथ साथ प्राकृतिक दृश्यों का भी वास्तविक और मनोमुग्धकारी चित्रण किया गया है जिन्हें पढ़ते ही प्रकृति की—उस ऋतु विशेष की—मनोहारिणी हृदयग्राही झाँकी लोचनों के सन्मुख उपस्थित सी हो जाती है। ऋतुवर्णन में ऋतुविशेष के पुष्प, फल, उत्सव और त्योहारों तथा उस ऋतु-विशेष में प्रकृति की दशा और मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों पर उसके प्रभाव आदि का वर्णन किया जाता है।

सेनापति ने भी प्रचलित परिपाटी को ही ग्रहण किया है तथा प्रकृति का वर्णन उद्दीपन विभाव के रूप में ही किया है। यद्यपि उनके प्रसिद्ध बारहमासे के कवित्तों में उद्दीपन विभाव की दृष्टि से लिखे गए छन्दों की ही बहुलता है परन्तु उनके षट्ऋतु वर्णन पर उचित रूप से विचार करने पर यही विदित होता है कि प्रचलित परिपाटी तथा तत्कालीन साहित्यिक और सामाजिक परिस्थितियों के फलस्वरूप संकुचित दृष्टिकोण होते हुए भी उनके मानस में प्रकृति के प्रति अगाध प्रेम था। 'कवित्त-रत्नाकर' में कई छन्द ऐसे दृष्टिगोचर होते हैं जिनमें कि कवि

ने प्रकृति का स्वच्छन्द वर्णन भी किया है तथा बारहमासे के समस्त कवित्तों में उद्दीपन का ही पुट नहीं पाया जाता। एक छन्द देखिए—

खंड खंड सब दिग-मंडल जलद सेत,
सेनापति मानौं सृंग फटिक पहार के।
अंबर अडंबर सौं उमड़ि, घुमड़ि, छिन,
छिछकें छछारे छिति अधिक उछार के॥
सलिल सहल मानौं सुधा के महल नभ,
तूल के पहल किधौं पवन अधार के।
पूरब कौं भाजत हैं, रजत से राजत हैं,
गग गग गाजत गगन घन क्वार के॥

सेनापति ने यहाँ आश्विनमास के मेघों का वास्तविक चित्रण किया है। कवि के ऋतुवर्णन की यह एक प्रमुख विशेषता है कि उसने ऋतुओं का वास्तविकतापूर्ण चित्रण ही किया है। जो कवि प्रकृति पर्यवेक्षण में जितना अधिक पटु होगा वह उतना ही स्वाभाविक प्रकृति वर्णन कर सकेगा। सेनापति ग्रीष्मऋतु से अत्याधिक प्रभावित हुए हैं अतः उन्होंने ग्रीष्म का वर्णन भी विशेष रूप से किया है। ग्रीष्मवर्णन में उनकी सहृदयता और भावुकता स्पष्ट परिलक्षित होती है। ग्रीष्म की प्रचंड लू से समस्त विश्व झुलस सा जाता है और शीतलता का कहीं आभास भी नहीं होता। यदि थोड़ी बहुत शीतलता अवशेष बचती भी है तो वह तहखानों के भीतर ही शेष बच पाती है। सेनापति जी अनुमान करते हैं कि विधाता ने शीतलता को वहाँ कदाचित इसीलिए छिपा रखा है जिससे कि बीज रूप में अवशिष्ट इस शीतलता का अवलम्ब लेकर आगामी शीतऋतु में शीतरूपी लता को पुनः विकसित किया जा सके। देखिए—

सेनापति ऊँचे दिनकर के चलति लुवें,
नद, नदी, कुवें कोपि डारत सुखाइ कै।
चलत पवन, मुरझात उपवन बन,
लाग्यौ है तपन, डारयौ भूतल तचाइ कै॥
भीषम तपत रितु ग्रीषम सकुचि तातें,
सीरक छिपी है तहखानन में जाइ कै।
मानौं शीतकाल, सीतलता के जमाइबे कौ,
राखे हैं बिरंचि बीच धरा में धराइकै॥

जेठमास की दोपहरी में चारों ओर सन्नाटा छा जाता है तथा ग्रीष्म के प्रचंड उत्ताप से उत्तप्त होकर प्रत्येक प्राणी विश्राम करता है और एक तिनका भी कहीं नहीं खटकता। सेनापति जी इस दृश्य का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

लागे हैं कपाट सेनापति रंग-मंदिर के,
परदा परे, न खरकत कहूँ पात हैं।
कोई न भनक, ह्वै कै चनक मनक रही,
जेठ की दुपहरी कि मानो अधरात है॥

दोपहरी में प्रायः वायुप्रवाह भी मंद सा पड़ जाता है और उस समय उमस से समस्त विश्व व्याकुल सा हो उठता है। कवि यह अनुमान करता है कि मानों पवन भी ग्रीष्मऋतु के प्रखर उत्ताप से त्रस्त होकर किसी स्थान में बैठकर तनिक देर विश्राम कर रही है। देखिए—

सेनापति नैंक दुपहरी के ढरत होत,
धमका विषम ज्यौं न पात खरकत है।
मेरे जान पौनौं सीरी ठौर कौं पकरि कौंनौं,
घरी एक बैठि कहूँ घामैं बितवत है॥

रीतिकालीन प्रसिद्ध कवि बिहारी ने इस छन्द के भावों को

अपनाया है पर उनके दोहे में वैसी वास्तविकता न आ सकी जैसी कि सेनापति की उक्ति में है। देखिए—

बैठि रही अति सघन बन, पैठि सदन मन माँहँ।
देखि दुपहरी जेठ की, छाँहौ चाहति छाँहँ॥

शरदृऋतु में शुभ्रज्योत्सना से परिपूर्ण विश्व सेनापति को ऐसा प्रतीत होता है मानो वह क्षीर सागर में निमग्न सा हो गया हो—

कातिक की राति थोरी थोरी सियराति, सेना—
पति है सुहाति सुखी जीवन के गन हैं।
फूले हैं कुमुद फूली मालती सघन बन,
फूलि रहे तारे मानौं मोती अनगन हैं॥
उदित बिमल चंद, चाँदनी छिटक रही,
राम कैसो जस अध ऊरध गगन हैं।
तिमिर हरन भयौ, सेत है बरन सब,
मानहु जगत छीर सागर मगन हैं॥

इसी प्रकार शिशिरऋतु का वर्णन भी कवि ने वास्तविकता पूर्ण किया है। शिशिर का एक छन्द देखिए—

सिसिर तुषार के बुखार से उखारत है,
पूस बीते होत सून हाथ पाइ ठिरिकै।
द्यौस की छुटाई की बड़ाई बरनी न जाइ,
सेनापति पाई कछ सोचि कै सुमिरि कै॥
सीत तैं सहसकर सहस चरन ह्वै कै,
ऐसे जात भाजि तम आवत है घिरि कै।
जौ लौं कोक कोकी कौ मिलत तौ लौं होति राति,
कोक अधबीच ही तें आवत है फिरि कै॥

ग्रीष्मऋतु में सूर्य सहस्त्र करों से—अर्थात् सहस्त्रों रश्मियों से वसुधा को उत्तप्त करता है परन्तु शिशिर ऋतु में वही सहस्त्र चरणों का हो जाता है अर्थात् द्रुतगति से प्रस्थान कर देता है और घोर अंधकार शीघ्र ही चारों ओर व्याप्त हो जाता है। शिशिर ऋतु में दिन तो छोटे होते हैं परन्तु रातें बड़ी होती हैं; इसलिए चकवा और चकई का संयोग भी नहीं हो पाता क्योंकि जब तक वे दोनों आपस में मिलें तब तक निशा का आगमन हो जाता है और जैसा कि परंपरा से प्रसिद्ध है—कि चकवा और चकई का सम्मिलन केवल दिवस में ही होता है; रात्रि में तो उन्हें विरह ही सहन करना पड़ता है; वे आपस में मिल नहीं पाते। सेनापति का कहना है कि परन्तु माघ के महीने में तो दिन होता ही नहीं है तथा उसके दर्शन तो स्वप्न में ही हो पाते हैं।देखिए—

अब आयौ माह, प्यारे लागत हैं नाह, रबि,
करत न दाह जैसो अवरेखियत है।
जानियै न जात, बात कहत बिलात दिन,
छिन सौं न तातें तनकौं बिसेखियत है॥
कलप सी राति सो तौ सोए न सिराति क्यौं हू,
सोइ सोइ जागे पै न प्रात पेखियत है।
सेनापति मेरे जान दिन हूँ तैं राति भई,
दिन मेरे जान सपने में देखियत है॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि सेनापति ने प्रकृति का स्वतंत्र निरीक्षण भी किया था तथा उनके प्रकृति चित्रण में वास्तविकता और स्वाभाविकता ही दृष्टिगोचर होती है। उनका ऋतु वर्णन केवल परम्परागत ऋतु वर्णन ही नहीं है बल्कि उसमें प्राकृतिक दृश्यों का सूक्ष्माति सूक्ष्म स्वरूप भी चित्रित किया गया है। प्रायः अन्य अधिकांश हिंदी कवियों ने प्रकृति चित्रण अथवा किसी

ऋतु का वर्णन करते समय केवल अधिक से अधिक वस्तुओं की गणना भर की है और जो कवि जितना ही अधिक प्राकृतिक वस्तुओं की गणना कर सका उसने उतना ही अधिक अपने आपको सफल कवि समझा परन्तु काव्य में वस्तुओं को अधिकाधिक संख्या में गिनना ही काव्य नहीं समझा जाता और न यह अनिवार्य ही है। कवि यदि आवश्यक समझे तो कुछ प्रमुख बातों का चयन कर सकता है परन्तु उसे उन्हीं वस्तुओं का चयन करना चाहिए जिनके द्वारा कि किसी दृश्य विशेष का स्पष्ट रूप से चित्रण हो सके। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उचित ही लिखा है—"काव्य में अर्थग्रहण मात्र से काम नहीं चलता; बिम्बग्रहण अपेक्षित होता है। यह बिम्बग्रहण निर्दिष्ट, गोचर और मूर्त विषय का ही हो सकता है।"[1]

परन्तु इस प्रकार का विशाल तथा व्यापक दृष्टिकोण सेनापति के ऋतुवर्णन में सर्वत्र ही दृष्टिगोचर नहीं होता। उनके ऋतुवर्णन के अधिकांश कवित्तों का सृजन उद्दीपन विभाव के रूप में ही हुआ था अतः कई स्थलों पर नायक-नायिका के मानस में उत्थित भावों को उद्दीप्त करने की दृष्टि से ही उन्होंने प्रकृति वर्णन किया है। सेनापति के पूर्व इस प्रकार के वर्णनों की बहुलता सी थी। रत्नसेन के साथ संयोग होने पर पद्मावती को पावस की सुषमा ऐसी प्रतीत होती है मानों वह चमकती हुई विद्युत स्वर्ण की वृष्टि कर रही हो—

चमक बीजु, बरसै जल सोना।
दादुर मोर, सबद सुठि लोना॥

परन्तु उधर नागवती का वियोगावस्था में वही विद्युत कृपाण

---

१. दे० चिन्तामणि—(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल) प्रथम भाग पृष्ठ १४५

सी प्रतीत होती है और वर्षा की बूँदे बाण के सदृश्य जान पड़ती हैं—

खड़ग बीजु चमकैं चहुँ ओरा ।
बुँद बान बरसहिं चहुँ ओरा ॥

मलिक मुहम्मद जायसी की 'पद्मावत' के इस प्रकार के ऋतुवर्णन के सदृश्य विद्यापति और सूर ने भी प्रकृति को उद्दीपन की दृष्टि से ही चित्रित किया है तथा आगे चलकर तो इस प्रकार की परिपाटी सी स्थापित हो गई। सेनापति ने भी इस कविपरिपाटी का अनुसरण किया है । इस प्रकार के ऋतुवर्णन में नायिका की संयोगावस्था और वियोगास्था का मर्मस्पर्शी चित्रण किया जाता है तथा ये चित्र रसव्यंजना में भी पूर्ण सहायक होते हैं। सेनापति ने प्रकृतिक दृश्यों तथा उपादानों का आधार लेकर नायक नायिका के संयोग और वियोग का बड़ा ही कलापूर्ण चित्रण किया है तथा इस प्रकार के छन्दों में कहीं कहीं उनकी सहृदयता और भावुकता का चरमोत्कर्ष भी देख पड़ता है। चैत्रमास में, वसन्त के सुहावने प्रभात में नायक नायिका का संयोग पाकर आनन्द से वाटिका में गुलाब के प्रसूनों को एकत्र कर रहा है। देखिए—

सरस सुधारी राजमंदिर मैं फूलवारी ,
मोर करैं सोर, गान कोकिल विराव के ।
सेनापति सुखद समीर है, सुगंध मंद ,
हरत सुरत--स्रम--सीकर सुभाव के ॥
प्यारौं अनुकूल, कौहू करत करन--फूल ,
कौहू सीसफूल, पाँवडेऊ मृदु पाँव के ।
चैत में प्रभात साथ प्यारी अलसात, लाल ,
जात मुसकात फूल बीनत गुलाब के ॥

परन्तु ऋतुवर्णन में नायिका की विरहावस्था का ही अत्यधिक चित्रण किया गया है। अन्तर्जगत को ऋतु सुलभव्यापारों के मध्य बिम्ब प्रतिबिम्ब रूप में देखना भावमग्न अंतःकरण की एक खास विशेषता है और इसके वर्णन में प्रस्तुत अप्रस्तुत का अंतर भी मिट जाता है। सेनापति ने ऐसे प्रसंगों का वर्णन बड़े ही कलापूर्ण ढंग से किया है। विरहोन्माद में मानस में भिन्न भिन्न प्रकार की उठती हुई भावनाओं से रंजित एक ही दृश्य कभी किसी रूप में और कभी किसी अन्य रूप में दृष्टिगोचर होता है पावस-ऋतु में गोपियों को वर्षाऋतु के वारिद्खंडों का अवलोकन करने से प्रियतम घनश्याम कभी अनुभूति होती है—

सारंग धुनि सुनावै घन रस बरसावै,
मोर मन हरषावै अति अभिराम हैं।
जीवन अधार बड़ी गरज करनहार,
तपति हरनहार देत मन काम है॥
सीतल सुभग जाकी छाया जग सेनापति,
पावत अधिक तन मन बिसराम है।
संपै संग लीनें सनमुख तेरे बरसाऊ,
आयौ घनश्याम सखि मानौं घनश्याम है॥

इसी प्रकार सूरदास जी ने भी प्रियतम श्रीकृष्ण के साथ कुछ रूप-साम्य होने के कारण गोपियों को मेघों का प्रियलगना चित्रित किया है—

आजु घनस्याम की अनुहारि !
उनै आए साँवरे, ते सजनी ! देखि रूप की आरि॥
इन्द्र धनुष मनो नवल बसन छबि, दामिनि दसन बिचारि।
जनु बग पाँति माल मोतिन की, चितवत हितहि निहारि॥

गरजत गगन, गिरा गोविंद की, सुनत नयन भरे बारि।
सूरदास गुन सुमिरि स्याम के बिकल भईं व्रजनारि॥

बसंतऋतु में वियोगिनी को प्रकृति की सुषमा अत्यधिक दुःखदायी प्रतीत होती है क्योंकि उसका पति परदेश में है। प्रिय के परदेश में होने के कारण मलयानिल उसे अत्यंत उष्ण जान पड़ती है और रसाल के विकसित पुष्प उसे प्रियतम की प्रीति की स्मृति कराकर व्यथित कर रहे हैं। देखिए—

केतकि, असोक, नव चंपक, बकुल कुल,
कौन धौं बियोगिनी-कौं ऐसो बिकराल है।
सेनापति साँवरे की सूरति की सुरति की,
सुरति कराइ करि डारत बिहाल है॥

दछिन पवन एती ताहू की दवन जऊ,
सूनौ है भवन परदेस प्यारौ लाल है।
लाल है प्रवाल फूले देखत बिसाल, जऊ
फूले और साल पै रसाल उर-साल है॥

सेनापति की प्रसिद्ध कृति 'कवित्तरत्नाकर' में इस प्रकार के कई उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं और यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि बारहमासे के जिन छन्दों में उद्दीपन का पुट पाया जाता है उनमें काव्योचित भावुकता का बड़ा ही सुंदर समावेश हुआ है। यह अवश्य है कि प्राचीन हिंदी कविता में आधुनिक हिन्दी कवियों की भाँति अध्यान्तरिक Subjective दृष्टिकोण से प्रकृति-चित्रण का प्रयास कहीं नहीं किया गया है और कदाचित इसका कारण यही है कि कवि तत्कालीन काव्य प्रवृत्तियों से इतना अधिक प्रभावित हो गया कि उसे इसका ध्यान ही न रहा हो। आधुनिक हिंदी कवियों ने अध्यान्तरिक Subjective दृष्टिकोण से प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण कर विरहव्यथित मानस

की अव्यक्त भावनाओं को इस सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया है कि इन हृदयोंद्रेकों में काव्य के समस्त सौन्दर्य का समावेश हो गया है। श्री सुमित्रानंदन पंत की 'ग्रंथि' में इस प्रकार के उदाहरणों की बहुलता सी है। देखिए—

शैवालिनि ! जाओ मिलो तुम सिन्धु से,
अनिल ! आलिंगन, करो तुम गगन को,
चंद्रिके ! चूमो तरंगों के अधर,
उडुगणों ! गाओ पवन - वीणा बजा,
पर हृदय ! सब भाँति तू कंगाल है,
उठ किसी निर्जन विपिन में बैठकर,
अश्रुओं की बाढ़ में अपनी बिकी,
भग्न-भावी को डुबा दे आँख - सी।

—[ग्रंथि, पृष्ठ—३१]

साहित्य समाज का प्रतिबिंब कहा जाता है अतः स्वाभाविक ही वह सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित भी होता होगा। सेनापति का ऋतुवर्णन भी तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित हुआ है। रीतिकालीन अधिकांश कवियों की भाँति सेनापति का सम्बन्ध भी राजदरबारों से अवश्य हो रहा होगा। राजदरबारों के बाह्य आडम्बर युक्त ठाट बाट के दृश्य कदाचित समाज में भौतिक आनन्द के आदर्श समझे जाते रहे होगे और उनका अनुकरण करने की प्रवृत्ति भी हो सकता है सर्वसाधारण जनता में रही हो, चाहे फिर उनमें ऐसा करने की सामर्थ्य का अभाव ही हो। कवियों ने भी इसीलिए अपनी कृतियों में ऋतु-वर्णन के अन्तर्गत इन आदर्शों का चित्रण किया है और व्यवहारतः अपने संरक्षक को प्रसन्न रखने के उद्देश्य से उनका ऐसा करना स्वाभाविक ही समझा जाएगा। सेनापति ने भी इसी-

लिए अपने ऋतु वर्णन में राजवैभव आदि का विशेष वर्णन किया। है ग्रीष्मऋतु में 'नृप' की दिनचर्या इस प्रकार की होती है—

प्रात नृप-न्हात, करि प्रसन बसन गात,
पैंधि सभा जात जौ लौं बासर सुहात है।
पीछे अलसाने, प्यारी संग सुखसाने, बिह-
रत खसखानें जब घाम नियरात है।।
लागे हैं कपाट, सेनापति रंग-मंदिर के,
परदा परे न खरखत कहूँ पात है।
कोई न भनक, ह्वै कै चनक-मनक रही,
जेठ कि दुपहरी कि मानौं अधरात हैं।।

इसी प्रकार मार्ग शीर्षमास में 'प्रभु' लोगों के उपभोग की सामग्री का भी वर्णन उन्होंने किया है। देखिए—

प्रात उठि आइबे कौ, तेलहिं लगाइबे कौं,
मलि मलि न्हाइबो कौं गरम हमाम है।
ओढ़िबे कौं साल, जे बिसाल है अनेक रंग,
बैठिबे कौ सभा, जहाँ सूरज को घाम है।।
धूप कौं अगर, सेनापति सोंधौं सौरभ कौं,
सुख करिबे कौ छिति अंतर कौं धाम है।
आए अगहन, हिम पवन चलन लागे,
ऐसे प्रभु लोगन कौं होत बिसराम है।।

हिन्दी के कुछ प्राचीन कवियों ने तो राजा महाराजाओं की काम वासना को उत्तेजित करना ही अपना प्रमुख कवि-कर्त्तव्य समझा और किसी किसी ने तो ऋतुओं के उपचार के नुस्खे भी प्रस्तुत किए। कविता का उद्देश्य केवल मनोरंजन मात्र नहीं है

और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तो उचित ही लिखा है—"मन को अनुरंजित करना, उसे सुख या आनन्द पहुँचाना ही यदि कविता का अंतिम लक्ष्य माना जाय तो कविता भी केवल विलास की सामग्री हुई।" (चिन्तामणि-प्रथमभाग—पृष्ठ १६३) परन्तु रीतिकालीन कवियों ने तो विशेषरूप से कविता को एक मात्र विलास की ही सामग्री समझ लिया और अपने आश्रय-दाताओं की प्रशंसा में तथा उनकी कामवासना को उत्तेजित करने में ही अपनी कवित्व शक्ति का अपव्यय किया। पद्माकर जी शिशिर के मौसम की व्यवस्था इस प्रकार करते हैं :—

गुलगुली गिलमें, गलीचा हैं, गुनीजन हैं,
चिक हैं, चिराकैं हैं, चिरागन की माला हैं।
कहैं पदमाकर है गजक गजा हू सजी,
सज्जा हैं, सुरा हैं, सुराही हैं, सुप्याला हैं॥
शिशिर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्हैं,
जिनके अधीन एते उदित मसाला हैं,
तान तुक ताला है, विनोद के रसाला है,
सुबाला है, दुसाला है, बिसाला चित्रसाला हैं॥

इसी प्रकार ग्रीष्मोपचार का नुस्खा रीतिकालीन कवि कालिदास ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

सीतल गुलाब जल भरि चह बच्चन में,
करिकै कमल दल न्हाइबे को धँसिए।
कालिदास अंग-अंग अगर अतर संग,
केसर उसीर नीर घनसार घसिए॥
जेठ में गोविन्दलाल चन्दन के चहलन,
भरि भरि गोकुल के महलन बसिए॥

सेनापति में भी यह प्रवृत्ति विद्यमान थी और इसीलिए उन्होंने भी अपने ऋतुवर्णन में कहीं-कहीं ऋतुओं के उपचारों के नुस्खों का भी वर्णन किया है। ग्रीष्म के भीषण उत्ताप से बचने के हेतु जिन उपचारों की आवश्यकता होती है उनका उल्लेख उन्होंने इस प्रकार किया है—

जेठ नजि काने सुधरत खसखाने, तल,
ताख तहखाने के सुधारि भारियत हैं।
होति है मरम्मति बिबिध जलजंत्रन की,
ऊँचे ऊँचे, अटा ते सुधा सुधारियत हैं॥
सेनापति अतर, गुलाब, अरगजा साजि,
सार, तार, हार मोल लै लै धारियत हैं।
ग्रीषम के बासर बड़ाइबें कौं सीरे सब,
राज-भोग-काज साज यौं सम्हारियत हैं॥

इसी प्रकार मार्गशीर्ष और पूसमास में हेमन्त की शीत से रक्षा करने के हेतु वे निम्नांकित उपचारों को आवश्यक समझते हैं—

मारग-सीरष, पूस मैं सीत - हरन - उपचार।
नीर समीरन तीर सम, जनमत सरस तुसार॥
जनमत सरसतु सार, यहै रमनी-संग रहियै।
कीजै जोबन भोग, जनम जीवन फल लहियै॥
तपन, तूल, तंबूल, अनल, अनुकूल होत जग।
सेनापति धन सदन बास, न बिदेस, न मारग॥

इस छन्द की विशेषता यह है कि इसमें लोकमत अर्थात् जनसाधारण में प्रचलित विचारों का ही वर्णन किया गया है। बहुत कम कवि ऐसे हैं जो जन साधारण में प्रचलित उपचारों

पर भी प्रकाश डालते हों। हर्ष की बात है कि सेनापति का ध्यान इस ओर भी गया है।

इस प्रकार सेनापति के ऋतुवर्णन की विभिन्न पहलुओं से समीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि उनका ऋतुवर्णन हिंदी काव्य जगत में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। कहीं-कहीं ऋतुओं के उत्कर्ष को वर्णन करने की प्रवृत्ति के फलस्वरूप प्रकृति-पर्यवेक्षण की अपेक्षा ऐसे वर्णनों में कोरा चमत्कार मात्र ही देख पड़ता है परन्तु ऐसे स्थलों की संख्या न्यून ही है उनके बारह-मासे में उद्दीपन का पुट भी पाया जाता है और कई छन्दों में तो विभिन्न ऋतुओं में नायिका के मानस में उदय होने वाले भावों को ही चित्रित किया गया है। इस प्रकार का प्रकृति वर्णन परम्परागत ही कहा जाएगा परन्तु हर्ष की बात है कि उनके ऋतु वर्णन में ऐसे छन्द भी हैं जिनमें प्रकृति पर्यवेक्षण की अनूठी सुषमा देख पड़ती है। यह तो निस्संकोच कहा जा सकता है कि प्रकृति का स्वतंत्र निरीक्षण जैसा सेनापति ने किया है वैसा बहुत कम प्राचीन कवि कर सके हैं तथा उनके ऋतुवर्णन में जैसी वास्तविकता दृष्टिगोचर होती है वैसी बहुत कम ब्रजभाषा के कवियों में देख पड़ती है। जब ब्रजभाषा के प्रकृति वर्णन करने-वाले कवियों का इतिहास लिखा जायगा तब निस्संदेह ही सेनापति का स्थान प्रथम श्रेणी में रखा जाएगा।

---

७. बिहारी का भाषा-सौंदर्य

एक विद्वान समालोचक का कथन है कि "यदि भाव कविता का प्राण है तो भाषा कविता का शरीर है।" जिस प्रकार शरीर और प्राण दोनों का ही समान रूप से महत्व है इसी प्रकार भाषा और भाव भी अपना अपना समान महत्व रखते हैं। सत्य कहा जाय तो भाव भाषा में ही रहता है। भाव या मनोविकार तो प्रायः सभी के हृदय में उठा करते हैं परन्तु जब तक उनको सुन्दर सुन्दर शब्दों द्वारा प्रकट नहीं किया जाता तब तक श्रोता अथवा पाठक को तनिक भी आनन्द नहीं आता। सुन्दर सबल और सजीव भाषा की सहायता से कभी कभी साधारण भाव भी चमक उठते हैं। संस्कृत के साहित्यज्ञों ने किंचित इसीलिए लिखा है कि 'शब्दार्थः काव्यम्'—शब्द और अर्थ अर्थात् भाषा और भाव दोनों मिलकर ही काव्य कहे जाते हैं। और फिर 'कविहिं अरथ-आखर बलि साँचा' के अनुसार तो भाषा ही कवि के लिए कसौटी स्वरूप है। इस प्रकार भाव और भाषा दोनों का श्रेष्ठ होना ही किसी भी उत्तम काव्य के लिए आवश्यकीय है। बाबू श्यामसुन्दरदास ने भी भाषा का महत्व स्वीकार करते हुए लिखा है- "जिस प्रकार चित्र के लिए रेखाएँ और मूर्ति के लिए प्रस्तर की काँट-छाँट अनिवार्य है। उनके बिना चित्र और मूर्ति की सत्ता नहीं

हो सकती उसी प्रकार भाषा के बिना साहित्य का अस्तित्व भी संभव नहीं है।"[1]

भाषा में सबसे प्रधान गुण तो यह होना चाहिए कि उसके द्वारा लेखक या कवि अपने भावों को पूर्णतः प्रकट कर सके। अर्थात् भाषा में भावों को प्रकट करने की पूर्ण क्षमता होनी चाहिए। भाषाकी स्वाभाविक अर्थशक्ति ही उत्तम भाषा की कसौटी कही जा सकती है। कवि को अपने भावों के अनुकूल सुन्दर-सुन्दर शब्दों का चयन कर अपनी पदावली का निर्माण करना पड़ता है इसीलिए कहा गया है—

> चरन धरत, चिन्ता करत, चितवत चारिहु ओर।
> सुबरन को खोजत फिरत कवि व्यभिचारी चोर॥

उत्तम भाषा के द्वारा कवि ठीक मतलब की बात बहुत थोड़े से शब्दों द्वारा ही प्रकट कर सकता है। पाठक अथवा श्रोता को कवि के अभिप्राय तक पहुँचने के लिए घंटों व्यर्थ की माथापच्ची नहीं करनी पड़ती। साथ ही भाषा में मनोरंजकता, सबलता और सजीवता भी आवश्यक है। कृत्रिम भाषा के द्वारा कवि की विद्वता प्रकट नहीं होती बल्कि उसे उपहासास्पद होना पड़ता है। उत्तम भाषा में अलंकारों का प्रादुर्भाव आप ही आप होता है और उन्हें लाने के लिए आकाश पाताल एक नहीं करना पड़ता। भाषा में माधुर्य भी आवश्यक है। सुन्दर, मधुर पदावली जब कर्णकुहरों में प्रवेश करती है तब आनंदातिरेक से मानस-पयोधि उमड़ उठता है। साथ ही भाषा में लचीलापन भी होना चाहिए। जैसा कि अर्नेष्ट राइस (Ernest Rhys) ने लिखा भी है —"We test a language by its elasticity, its response to rhythm, by the kindness with

---

१. देखिए—साहित्यालोचन (पृष्ठ ६७)

which its looks upon the figurative desires of a child and the poet."

सत्य कहा जाय तो रीतिकाल ब्रजभाषा के लिए स्वर्णयुग के समान था। सैकड़ों कवियों द्वारा ब्रजभाषा परिमार्जित होकर यद्यपि प्रौढ़ता को पहुँच रही थी किन्तु व्याकरण की त्रुटियों की उसमें बहुलता सी थी। हमारे कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि ब्रजभाषा के कवि व्याकरण की निरी अवहेलना ही करते थे पर हाँ यह अवश्य है कि व्याकरण की अशुद्धियाँ साधारण ही नहीं बड़े बड़े प्रसिद्ध कवियों तक की भाषा में उपलब्ध होती हैं। और कुछ होता या न होता यदि रीतिकाल कम से कम शब्दों का रूप ही स्थिर हो जाता तो कविगण उन्हें विकृत करने का उतना साहस न कर पाते। साथ ही रीतिकाल में शनैः शनैः वाक्य दोषों का निराकरण भी होना आवश्यकीय था। महत्वपूर्ण बात तो यह है कि भाषा की गड़बड़ी का मुख्य कारण कवियों द्वारा ब्रज और अवधी दोनों का सम्मिश्रण प्रस्तुत करना भी है। यह अवश्य है कि सामान्य साहित्यिक भाषा किसी एक प्रदेश विशेष के प्रयोगों तक ही सीमित नहीं रह सकती; पर कम से कम ढाँचे में तो परिवर्तन न होना चाहिए था। ब्रजभाषा के कवियों की भाषा में तो पूरबी का भी बाहुल्य है। ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि एकमात्र ब्रजभूमि के ही निवासी नहीं थे और यह आवश्यक भी नहीं था कि ब्रजभूमि में ही रहनेवाला ब्रजभाषा में काव्यरचना कर सके। दास जी ने लिखा भी है—

सूर, केशव, मंडन, बिहारी, कालिदास ब्रह्म,
चिंतामणि, मतिराम भूषन, सु जानिए।
लीलाधर, सेनापति, निपट, नेवाज निधि,
नीलकंठ, मिश्र सुखदेव, देव मानिए॥

आलम, रहीम, रसखान, सुंदरादिक,
अनेकन सुमति भए कहाँ लौं बखानिए।
ब्रजभाषा हेत ब्रजवास ही न अनुमानौ,
ऐसे ऐसे कविन ही की बानी हूँ सो जानिए ॥

इसी प्रकार मिली जुली भाषा के प्रमाण में भी दास जी का मत है कि तुलसी और गंग तक ने जो कि कवियों में शिरोमणि गिने जाते हैं मिली जुली भाषा का उपयोग किया है। देखिए—

तुलसी गंग दुवौ भए, सुकविन के सरदार।
इनके काव्यन में मिली, भाषा विविध प्रकार ॥

पूरबी प्रयोगों का आविर्भाव तो ब्रजभाषा में हुआ ही; साथ ही कवियों की निरंकुशता के फलस्वरूप कारक चिह्नों और क्रिया के रूपों का भी कवियों ने मनमाना व्यवहार किया। उदाहरणार्थ देना क्रिया के सामान्य भूतकालवाले रूप, दीन, दियो, दीन्हे, दीन्ह्यो आदि तक पाए जाते हैं। अतएव भाषा में वह स्थिरता न आ सकी जो कि एक साहित्यिक भाषा के लिए परमावश्यक थी। साथ हीभक्तिकाल में ही कवियों का संसर्ग मुसलमान कवियों से हो चुका था अतएव कविता में फारसी के शब्दों का भी प्रादुर्भाव होने लगा। मुसलमानी राज्य की स्थापना और विस्तार से इनके प्रयोगों में भी वृद्धि होने लगी। तुलसी की ही कविता में गनी, गरीब, साहेब, उमरदराज आदि शब्द उपलब्ध होते हैं; फिर दूसरों का तो कहना ही क्या है? 'खुसबोयन' सरीखे विकृत शब्द भी काव्य में दृष्टिगोचर होते हैं। रीतिकालीन ब्रजभाषा की यह एक झलक मात्र है।

बिहारी रीतिकाल के प्रशंसनीय महाकवियों में से हैं। यों तो उनकी 'बिहारीसतसई' के पूर्व ही ब्रजभाषा का सौंदर्य कई रचनाओं में झलक उठता हैपर उसका जैसासुंदरसाहित्यिक रूप उनकी

सतसई में देख पड़ता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। 'न भूतो न भविष्यति' वाली कहावत चरितार्थ सी होती दीखती है। बिहारी की भाषा के विषय में श्री० लोकनाथ द्विवेदी 'सिलाकारी' ने उचित ही लिखा है—"शब्दों का प्रयोग सतसई में बड़े ही अनूठे ढंग से; वजन तौल कर, देश, काल, पात्र का ध्यान रख कर किया गया है। बिहारीलाल जी की भाषा में मनोंभावों का प्रतिबिंब निर्मल दर्पण की तरह झलकता है। बहुत थोड़े में गंभीर अर्थ ध्वनित करनेवाले सुंदर-से-सुंदर प्रचलित शब्दों की सुकर सजावट, रसानुकूल भाषा का प्रवाह, मुहाविरे की तेजी आदि सभी दर्शनीय हैं। फिर बिहारी लाल जी ने माधुर्य और प्रसाद को तो अनुचर सा बना डाला है।"[1]

जैसा कि दास जी ने लिखा है—

> माधुर्येज प्रसाद के सब गुन हैं आधीन ।
> तातें इनहीं को गनें मम्मट सुकवि प्रबीन ॥

वास्तव में भाषा में माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक तीन गुणों का होना नितान्त आवश्यक है। उत्तम भाषा के ये तीन प्रमुख गुण हैं। इन तीनों में माधुर्य तो भाषा के लिए परमाश्यक माना जाता है। बिहारी की भाषा इस गुण के लिए बहुत अधिक प्रसिद्ध है। उनकी सतसई तो मानों मधुरिमा से ही ओत प्रोत है। ऐसा विदित होता है कि मानों वह पीयूष से परिपूर्ण कोई पयोधि हो, अथवा मधुरता से उमड़ा हुआ कोई पारावार। श्री पद्मसिंह शर्मा ने उचित ही लिखा है —"संस्कृत भाषा के माधुर्य में किसी को कलाम नहीं है, पर ब्रजभाषा का माधुर्य भी एक निराली चीज है। वह सितोपला है तो यह द्राक्षा है। बिहारी शृंगारी कवि, भाषा ब्रजभाषा, शृंगार-रस की कविता (शृंगारी चेत्कविः काव्ये

---

१. देखिए—बिहारी दर्शन (पृष्ठ १८)

जातं रसमयं जगत्) अहो रम्य् परम्परा ! इसका आस्वादन कर चुकने पर भी यदि चित्तवृत्ति कुसंस्कार-वश कहीं अन्यत्र रसास्वादन के लिए जाना चाहती है, तो सहृदयता बिहारी के शब्दों में मचलकर कहती है—

मो रस राच्यो आन रस कहै कुटिल मति कूर ।
जीभ निबौरी क्यों लगै बौरी चाखि अँगूर ॥"[1]

मन को द्रवीभूत करने वाला आह्लाद माधुर्य कहलाता है । जिस रचना में ट, ठ, ड, ढ ड़, ढ़, आदि वर्णों का अभाव हो, कोमलकांत पदावली हो, अनुसार युक्त वर्ण हों, साथ ही न तो मीलित वर्णों की ही बहुलता हो और न लम्बे-लम्बे समास ही हों वह रचना माधुर्य-गुण-सम्पन्न कहलाती है । सानुनासिक वर्णों के प्रयोग से शोभा और भी अधिक द्विगुणित हो उठती है । देखिए, उदाहरण स्वरूप 'बिहारी सतसई' के ये दोहे:—

अरुन बरन तरुनी चरन अँगुरी अति सुकुमार ।
चुँवति सुरँग-रँग सी मनों, चँपि बिछियन के भार ॥
नहिं पराग नहिं मधुरमधु, नहिं बिकास इहिं काल ।
अली कली ही तैं बँध्यो आगे कौन हवाल ॥
घाम घरीक निवारिए, कलित ललित अलि पुंज ।
जमुना--तीर--तमाल--तरु--मिलित--मालती--कुंज ॥
पल सोहैं पगि पीक रंग, छल सोहैं सब बन ।
बल सोहैं कत कीजियत ये अलसौंहैं नैन ॥

भाषा में उस-समय एक विशेष प्रकार का माधुर्य देख पड़ता है जब कि शब्दों के उच्चारण से किसी प्रकार की झंकार उठती

१. दे०—सतसई-संजीवन-भाष्य (भूमिका)—पृष्ठ २४६

हो। इस प्रकार की शब्द-झंकृति मानस में एक प्रकार का नूतन आह्लाद उत्पन्न करती है। जिस प्रकार की घनानन्द के एक कवित्त के एक चरण की इस पंक्ति "आनन्द निधान सुखदान दुखियान दै" में मृदंग की धीमी धीमी ध्वनि सी कर्ण-गोचर होती है उसी प्रकार निम्नाँकित दोहे में घण्टा बँधे हुए मतंग के चलने और वायु के संचारित होने की ध्वनि सा निकलती है—

> रुनित घटावली झरत दान मधु-नीर।
> मंद-मंद आवत चल्यौ कुंजर कुंज समीर !

इसी प्रकार निम्नांकित दोहे के शब्दयुग्म 'झमकि-झमकि' द्वारा आभूषणों की ध्वनि सी उत्पन्न होती है—

> ज्यों ज्यों आवति निकट निसि त्यों-त्यों खरी उताल।
> झमकि-झमकि टहलैं करैं लगी रहचँटै बाल॥

बिहारी की भाषा की यह एक खास विशेषता है। बिहारी ने बोल चाल में भी भाषा की उत्कृष्टता प्रदर्शित की है कदाचित इसीलिए मिश्रबंधुओं ने लिखा है—"इन कविरत्न् की बोल चाल बहुत ही स्वाभाविक है। इन महाकवि ने इबारत-आराई भी खूब ही की है।"[1]

एक उदाहरण देखिये। नायक ने रात्रि में अन्य नायिका से सुरति की। उसके अंग पर अन्य स्त्री संभोग सूचक चिन्ह देखकर प्रौढ़ा धीरा नायिका ने कोप किया। नायक ने उसे मानना चाहा और उसे चन्द्रमुखी कहकर सम्बोधित किया। अब देखिए नायिका कितना सुन्दर मुँह तोड़ उत्तर उसे देती है। व्यंग के साथ साथ बोलचाल की उत्कृष्टता भी दर्शनीय है—

---

१. **हिन्दी नवरत्न् (द्वितीय संस्करण)—पृष्ठ २९०**

सासि बदनी मोसों कहत, सो यह साँची बात।
नैन नलिन ये रावरे न्याय निरखि नै जात॥

एक उदाहरण और देखिए—

लाज गहो, बेकाज कत घेर रहे? घर जाँहि।
गोरस चाहत फिरत हो गोरस चाहत नाँहि॥

गोरस शब्द के दो अर्थ दूध-दही और इंद्रियों के रस ने तो कमाल सा कर दिया है। यमक की सहायता से नायिका ने कितनी चतुराई से मनोभावों को प्रकट कर दिया है। वह संक्षेप में ही सब कह देती है—

गोरस चाहत फिरत हो, गोरस चाहत नाँहि।

बिहारी शब्दालंकारों के प्रयोग में बहुत अधिक सफल रहे हैं। अनुप्रास की सहायता से भाषा चमत्कृत सी हो उठी है। उनके अधिकांश दोहों में छबीली छटा छहरा रही है। एक-दो उदाहरण देखिए—

लहलहात तरु तरुनाई, लच लग लौं लफ जाइ।
लगै लंक लोयन भरी, लोयन लेत लगाइ॥

और भी—

मानहु मुख दिखरावनी दुलहिन कर अनुराग।
सास सदन मन ललन हूँ सौतिन दियो सुहाग॥

छेकानुप्रास और वृत्यानुप्रास की तो अधिकता-सी है। वृत्यानुप्रास का एक उदाहरण देखिए—

नख-रेखा **सोहैं** नई, **अलसौंहैं** सब गात।
सोहैं होत न नैन ये, तुम कत **सौंहैं** खात॥

रेखांकित शब्दों के प्रयोग ध्यान देने योग्य हैं। एक उदाहरण और भी देखिए—

नभ **लाली चाली** निसा, **चटकाली** धुनि कीन ।
रति **पाली आली** अनत, आए **बनमाली** न ॥

शब्द-सौंदर्य का एक उदाहरण और देखिए—

फूली **आँगन** में फिरै, **आँग न आँगि** समात ।

साहित्यज्ञों ने यमक को सभी शब्दालंकारों में सर्वश्रेष्ठ बताया है। बिहारी के दोहों में भी यमक का प्रयोग कुशलता के साथ हुआ है। देखिए—

बर जीते सर मैन के, ऐसे देखे मैं न ।
हरिनी के नैनान तें, हरि नीके ये नैन ॥

और भी—

कनक कनक तें सौगुनी मादकता अधिकाय ।
वह खाए बौराय नर, यह पाए बौराय ॥

यहाँ कनक का अर्थ धतूरा और स्वर्ण दोनों है। इसी प्रकार निम्नाँकित दोहे में अर्क का अर्थ आक का वृक्ष तथा सूर्य दोनों माना गया है—

गुनी गुनी सब कोउ कहत निगुनी गुनी न होत ।
सुन्यों कहें तरु अर्क तें अर्क-समान उदोत ॥

इसी प्रकार यहाँ रँग शब्द के क्रीड़ा या आनन्द और वर्ण अथवा रंग नामक दो अर्थ मान कर बिहारी कितनी दूर की कौड़ी लाए हैं—

कहै देत रँग रात के रँग निचुरत-से नैन ।

अब इसी प्रकार निम्नाँकित पंक्ति में भी केलि का अर्थ एक जगह कदली और दूसरी जगह रति क्रीड़ा माना गया है तथा साथ ही तरुन का अर्थ एक स्थान पर वृक्ष और दूसरे स्थान पर युवक है। देखिये—

केलि-तरुन दुखदैन ये, केलि तरुन सुखदैन ।

यमकालंकार की भाँति श्लेषालंकार के भी बहुत से उदाहरण 'बिहारी सतसई' में उपलब्ध होते हैं । देखिए—

अजौं तरयोना हीं रह्यौ' श्रुति सेवत इक-रंग ।
नाक-बास बेसरि लह्यौ, बसि मुकुतनु कै संग ॥

इस दोहे के शब्दों के अर्थ देखिए जिनकी सहायता से श्लेष-सौंदर्य देखा जा सकता है ।

तरयोना— (१) कर्णफूल, कान में पहनने का एक प्रकार का आभूषण
(२) जिसे मोक्ष न मिला हो

श्रुति— (१) कान, (२) वेद
नाक— (१) नासिका (२) स्वर्ग
बेसर—(१) नथ, नाक का आभूषण
(२) अति उत्तम
मुकतनु — (१) मोती
(२) साँसारिक बंधनों से मुक्त

मुहावरों के उपयोग से भाषा में एक नूतन रंग-सा चढ़ जाता है । भाषा सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लिये मुहावरों का प्रयोग नितान्त आवश्यक है । बिहारी को मुहावरों के प्रयोग में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है । बाबू राधाकृष्ण दास का कहना है कि—"मुहाविरे और उत्प्रेक्षा के तो बिहारीलाल बादशाह थे । हिंदी में ऐसी बोलचाल और ऐसे गठे हुए वाक्य किसी कविता में नहीं पाए जाते । उर्दू के कवि-कुल-भूषण नसीम और अनीस भी कदाचित बोलचाल में इनके सामने न ठहर सकेंगे ।[१] इस

१. देखिए —कविवर बिहारीलाल, (पृष्ठ ११७)

कथन का और अधिक पिष्टपेषण न कर हम कुछ उदाहरण प्रस्तुत करेंगे—

सीतलता ऽरु सुबास कौ घटै न महिमा मूर।
पीनसवारो जो तज्यौ सोरा जानि कपूर॥

\+ + +

जो न जुगुति पिय मिलन की धूरि मुकति मुंह दीन।

× × ×

आँखिन आँख लगी रहैं, आँखैं लागति नाहिं।

परन्तु कहीं-कहीं बिहारी मुसलमानी प्रभाव में आकर मुहावरों की कलाबाजियाँ भी दिखा बैठते हैं। जैसे—

मूड़ चढ़ाऐंऊ रहै **पर्‍यो पीठि** कच-भारु।
रहै **गरैं परि,** राखिबौ तऊ **हियै पर हारु॥**

मुहावरों के प्रयोग के साथ साथ बिहारी के लाक्षणिक प्रयोग भी उल्लेखनीय हैं। लाक्षणिकता का विस्तृत मैदान खुला होने पर भी ब्रजभाषा के कवियों में घनानन्द ही इस क्षेत्र में पूर्ण सफलता प्राप्त कर सके हैं। दूसरे अन्य रीतिकालीन कवियों ने इस ओर बहुत कम ध्यान दिया है। घनानन्द के कुछ उदाहरण देखिए—

ह्वै है सोऊ **घरी भाग-उघरी** अनंद घन,
सुरस बरसि लाल! देखिहौं हरी हमें।

× × ×

उघरो जग, छाय रहे घन आनन्द,
चातक ज्यों तकिए अब तौ।

रीतिकालीन कवियों में बिहारी की भाषा में भी लाक्षणिकता दृष्टिगोचर होती है। लाक्षणिकता से भाषा की अर्थ शक्ति तो

बढ़ ही जाती है साथ ही भाव-व्यंजना भी निखर उठती है। बिहारी का एक दोहा देखिए—

> दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरति चतुर चित प्रीति।
> परति गांठि दुरजन-हियैं, दई, नई यह रीति॥

उत्तम भाषा के गुणों पर विचार करते समय यह भी कहा जाता है कि स्थान, काल, तथा पात्र के अनुरूप भी भाषा का होना आवश्यक है। बिहारी ने इस बात पर पूर्ण ध्यान दिया है। नागरी का वर्णन वे इस प्रकार करते हैं—

> खेलन सिखए, अलि, भलैं चतुर अहेरी मार।
> कानन चारी नैन-मृग, नागर नरनु सिकार॥

उसी प्रकार ग्रामीण नायिका के वर्णन में भी उन्हें पूर्ण सफलता मिली है। जैसे—

> पहुला-हारु हियैं लसैं, सन की बेंदी भाल।
> राखति खेत खरी-खरी, खरे उरोजनु बाल॥

> गोरी गदकारी परैं हँसत कपोलनु गाड़।
> कैसी लसति गँवारि यह सुन किरवा की आड़॥

बिहारी सतसई में सामासिक पदावली भी उपलब्ध होती है। यह अवश्य है कि सामासिक पदावली के बाहुल्य से व्रज-भाषा की स्वाभाविकता नष्ट-सी हो जाती है किन्तु यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति की इस शैली द्वारा वृद्धि ही होती है और साथ ही भाषा का परिमार्जित रूप भी देख पड़ता है। बिहारी के दोहों की शोभा भी सामासिक पदावली के योग से द्विगुणित सी हो उठी है। देखिए—

> **बिकसित-नवमल्ली-कुसुम-निकसत** परिमल पाइ।
> परसि पजारति बिरहि-हिय, बरसि रहे की बाइ॥

कहीं-कहीं पर दीर्घ सामासिक पदावली भी दृष्टिगोचर होती है—

समरस - समर - सकोच - बस बिबस न टिक ठहराइ।
फिरि-फिरि उझकति, फिरि दुरति, दुरि दुरि उझकति आइ॥

इस प्रकार से हम देखते हैं कि बिहारी के भाषा-सौन्दर्य की समीक्षा करते हुए मिश्र बन्धुओं ने उचित ही लिखा है—"कुल बातों पर ध्यान देने से विदित होता है कि बिहारीलाल जी की भाषा बहुत मनोहर है। इन्होंने सभी स्थानों पर लहलहात, झलमलात, जगमगात आदि ऐसे बढ़िया शब्द रखे हैं कि .... दोहा चमचमा उठता है। इस प्रकार जैसा वर्णन किया है, उसी के अनुसार भाषा भी लिखकर उसका रूप खड़ा कर दिया है।"[1]

रीतिकालीन ब्रज-भाषा में पाए जाने वाले कुछ प्रमुख दोषों का उल्लेख हम इस लेख के प्रारम्भ में ही कर चुके हैं। पूरबी प्रयोगों का बाहुल्य, कवि-निरंकुशता और व्याकरण की अशुद्धियों से ब्रज-भाषा में अनेकानेक दोषों का आविर्भाव हुआ है। 'बिहारी सतसई, भी इनसे सर्वथा शून्य नहीं है। यह तो प्रारम्भ में ही लिखा जा चुका है कि ब्रज-भाषा के सभी प्रधान कवि ब्रज-भूमि के ही निवासी नहीं थे, और यह आवश्यक भी न था। फलस्वरूप उनकी काव्य-भाषा में स्थान विशेष के शब्दों के प्रयोग भी पाये जाते हैं। परन्तु काव्य-भाषा की विशेषता तो यह है कि वह दूसरी भाषा के शब्दों को अपने में आत्मसात कर सके और यदि वह ऐसा न कर सकी तो उसका विकास भी फिर नहीं हो पाता है।

१. देखिए—हिंदी नवरत्न (द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २६१)

बिहारी पर बुन्देलखण्ड का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है और 'खण्ड बुन्देले बाल' के अनुसार तो उनकी शैशवावस्था बुँन्देलखण्ड में ही व्यतीत हुई जान पड़ती है। बुन्देलखण्ड के लखबी, करबी, पायबी आदि तो तुलसी तक की कृतियों में उपलब्ध होते हैं; यद्यपि वे अवध-प्रान्त के ही निवासी थे। परन्तु बुन्देलखण्ड का अव्यय 'स्यौं' बिहारी की रचना में बहुत अधिक मिलता है, जो कि खास बुन्देलखण्ड का ही है और जिसका अर्थ संग या साथ माना जाता है। देखिए—

चिलक चिकनई, चटक स्यौं, लफति लटक लौं आइ।
नारि सलोनी साँवरी नागिनि लौं डसि जाइ॥
स्यौं बिजुरी मनु मेह, आनि इहाँ बिरहा धरे।
आठौ जाम अछेह, दृग जु बरत बरसत रहत॥

पहले दोहे के 'स्यौं' का पाठान्तर 'सौं' करके चाहे कोई बिहारी को दोष मुक्त करने की चेष्टा भी करे, परन्तु दूसरे दोहे में बुन्देलखण्डी 'स्यौं' तो है ही साथ ही अवधी का 'इहाँ' भी विराजमान है जो 'ह्याँ' माना जाता है। बिहारी के उपरान्त इस 'स्यों' का प्रयोग और दूसरे कवियों ने भी किया है। ठेठ अवध के रहने वाले दास जी ने भी इसका उपयोग किया है। देखिए—

स्यौं ध्वनि अर्थनि वाक्यानि लै,
गुन शब्द अलंकृत सों रति पाकी।
(काव्य-निर्णय)

अब कुछ पूरबी प्रयोगों पर ध्यान दीजिए। देखिए, इस दोहे में बिहारी ने 'लजियात' का प्रयोग किया है जो कि पूरबी प्रयोग तो है ही साथ ही तुकांत के लिए भी अनुपयुक्त है।

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात।
भरे भौंन में करत हैं, नैनन हीं सब बात॥

इसी प्रकार इस दोहे में तो निःसंकोच अवधी के 'आहि' का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ 'है' होता है—

मरी डरी कि टरी बिथा, कहा खरी चलि चाहि।
रही कराहि कराहि अति, अब मुँह आहि न आहि॥

इसी तरह 'लीन' 'कीन' 'दीन' आदि प्रयोग भी बिहारी की सूक्तियों में मिलते हैं जिनसे कि ब्रज-भाषा का सौंदर्य विनष्ट हो जाता है। यह अवश्य है कि सूर ने भी 'मोर' 'हमार' 'कीन' 'अस' आदि पूरबी प्रयोग अपनाए हैं परन्तु 'बिहारी सतसई' में तो इनकी प्रचुरता सी है। देखिए—

अपने अंग के जानि कै, जोबन-नृपति प्रबीन।
स्तन, मन, नैन, नितंब कौ बड़ौ इजाफा कीन॥

और भी—

पिय तिय सौं हँसि कै कह्यौ, लखैं दिठौना दीन।
चंदमुखी, मुखचंदु तैं, भलौ चंद समु कीन॥

इससे भी अधिक अरुचिकर प्रयोग तो 'किय' का किया गया है जिसे देखकर यही आभास होता है कि कवि भाषा के साथ खिलवाड़-सा कर रहा है।

मंगल-बिन्दु-सुरंग, ससि-मुख, केसर-आड़ गुरु।
इक नारी लहि संग, रसमय किय लोचन जगत॥

और भी—

मोर मुकुट की चंद्रिकनु, यौ राजत नँदनंद।
मनु ससि सेखर की अकस किय सेखर सत चंद॥

इसी प्रकार खड़ी बोली के कृदन्त और क्रियापद भी बिहारी की भाषा में दृष्टिगोचर होते हैं। देखिए—

झुकि-झुकि झपकौंहैं पलनु, फिरि फिरि जुरि जमुहाइ।
बींदि पिआगम, नींद-मिस, दीं सब अली उठाइ॥
नैंकौं उहिं न जुदी करी, हरषि जुदी तुम माल।
उर तैं बास छुट्यौ नहीं, बास छुटैहूँ लाल॥
गड़े बड़े छबि-छाक-छकि, छिगुनी-छोर छुटैं न।
रहे सुरँग रँग रँगि उहीं नहदी महदी नैन॥

अब कुछ लिंग के प्रयोगों पर विचार किया जाय। बिहारी ने एक ही शब्द को यदि कहीं स्त्री लिंग माना है तो उसी शब्द को दूसरे स्थान पर पुल्लिग माना है। यह अवश्य है कि इस लिंग विपर्य्य का कारण स्थान-भेद भी माना जाता है। उदाहरणार्थ, 'गेंद' व्रज-भूमि में स्त्री लिंग माना जाता है किन्तु अन्य कई प्रदेशों में वह पुल्लिग माना जाता है। हो सकता है कि 'बिहारी-सतसई' में भी उपलब्ध होने वाले लिंग-विपर्य्य का कारण यही हो परन्तु ऐसा करने से भाषा में दोषों का आविर्भाव तो हो ही जाता है। कुछ उदाहरण देखिए—

लपटी पुहुप पराग-पट, सनी स्वेद-मकरद।
आवति नारि नवोढ़ लौं, सुखद वायु गति मंद॥

संस्कृत में वायु को पुल्लिग माना गया है, परन्तु खड़ी बोली में और व्रज-भाषा में वायु स्त्री लिंग माना गया है। संस्कृत का अनुसरण करने वाले अवश्य उसे पुल्लिग मानते हैं। बिहारी ने तो वायु का दोनों प्रकार के लिंगों में प्रयोग किया है। उपर्युक्त दोहे में 'वायु' स्पष्ट ही स्त्री लिंग है परन्तु निम्नांकित दोहे में 'बाइ' (वायु) पुल्लिग है, साथ ही 'चुवतु' क्रिया को जो कि अकर्मक है, सकर्मक ही मानना पड़ेगा—

चुवतु स्वेद-मकरंद-कन, तरु तरु-तर बिरमाइ।
आवतु दच्छिन देस तैं, थक्यो बटोही बाइ॥

इसी प्रकार की दशा "उच्छ्वास" की भी है। संस्कृत में 'उच्छ्वास' पुल्लिग माना जाता है किन्तु बिहारी ने 'उच्छ्वास' के विकृत रूप 'उसास' का प्रयोग दोनों लिंगों में किया है। इसी प्रकार फारसी के 'रूख' शब्द को बिहारी ने स्त्री लिंग माना है जब कि वह फारसी और हिन्दी दोनों में प्रायः पुल्लिग ही माना जाता है। देखिए—

रस की सी रूख, ससि मुखी, हँसि हँसि बोलत बैन।
गूढ़ मानु मन क्यों रहै, गए बूढ-रँग नैन॥

इसी प्रकार के कई उदाहरण 'बिहारी सतसई' में उपलब्ध होते हैं। भाषा सौंदर्य का ह्रास उस समय तो निश्चित रूप से हो जाता है जब कि कवि निरंकुशता कर बैठता है। 'निरंकुशाः कवयः' वाली उक्ति सभी स्थानों पर चरितार्थ नहीं होती। यह अवश्य है कि कवि परम्परा पर विचार करने से कम से कम बिहारी के इस दोष का परिहार तो हो ही जाता है। ब्रज-भाषा के कविवों ने तुकांत के लिए अथवा अनुप्रास को छटा दिखलाने के हेतु शब्दों को बहुत अधिक तोड़ा-मरोड़ा है जिससे कि भाषा विकृत हो गई है। 'बिहारी सतसई' में दो या तीन शब्द ही विकृत उपलब्ध होते हैं नहीं तो सर्वथा स्वच्छ, सबल, सरस और सुकुमार शब्दावली दृष्टिगोचर होती है। 'स्मर' के लिए 'समर' तथा 'ककै' जैसे कुछ विकृत शब्द अवश्य बिहारी की भाषा में दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु इस पर भी जो बिहारी की भाषा में दोष ही दोष देखते हैं—उन पक्षपात का चश्मा लगाने वालों को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अच्छा खासा मुंह तोड़ उत्तर दिया है। शुक्ल जी लिखते हैं—"जो यह भी नहीं जानते कि संक्राति को 'संक्रमण' (अप० संक्रोन) भी कहते हैं, 'अच्छ' साफ के अर्थ में संस्कृत शब्द है, 'रोज' कलाई के अर्थ में आगरे के आस-पास बोला जाता है और कबीर,

जायसी आदि के द्वारा बराबर व्यवहृत हुआ है, सोनजाइ' शब्द 'स्वर्ण जाति' से निकला है, जुही से कोइ मतलब नहीं, संस्कृत में 'वारि' और 'बार' दोनों शब्द हैं और 'वार्द' का अर्थ भी बादल है, 'मिलान' पड़ाव या मुकाम के अर्थ में पुरानी कविता में भरा पड़ा है, चलती ब्रजभाषा में 'पिछानना' रूप ही आता है, 'खटकति' रूप बहुवचन में भी यही रहेगा, यदि पचासों शब्द उनकी समझ में न आएँ, तो बेचारे बिहारी का क्या दोष।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि बिहारी की भाषा में बहुत ही न्यून संख्या में दोष देख पड़ते हैं। सुधाकर में भी कलंक का निवास है, सुन्दर-सुरभित-सुमन कंटकों में हो खिलते हैं, शुभ्र और स्वच्छ सलिल में सूक्ष्माति सूक्ष्म कीटाणु अवश्य रहते हैं, अतएव यदि 'बिहारी सतसई' में ये थोड़े से दोष भी उपलब्ध हों तो भी बिहारी का भाषा सौंदर्य कुछ न्यून नहीं होता। यह तो बिहारी की भाषा का ही महत्व है जिसने कि उनकी कीर्ति ध्वसों को अक्षय बनाए रखा है। किसी कवि ने उचित हो लिखा है—

ब्रजभाषा बरनी सबै, बहु बिधि, बुद्धि'विशाल।
सब की भूषन सतसई, रची बिहारी लाल॥

---

१. हिंदी साहित्य का इतिहास (नवीन संस्करण) पृष्ठ २५०

६. महाकवि पद्माकर की भाषा

एक समालोचक का कथन है कि कविता वही है जिसमें सर्वोत्तम शब्दों का न्याय हो (Poetry is the best words in their dest order) अर्थात् सुन्दर शब्दों को सुन्दर क्रम से रखना ही कविता है। भाषा के साथ साथ भावों का भी सम्मिश्रण आवश्यक है। भाव और भाषा का अटूट सम्बन्ध है। यह तो सर्वमान्य सा है कि भावहीन कविता को हम कविता नहीं कहेंगे, परन्तु कोरे विचारों को प्रकट करने से ही काम नहीं चलता। उन विचारों को जब तक सुन्दर शब्दों द्वारा प्रकट नहीं किया जायगा तब तक कुछ भी आनन्द न आवेगा। भाव या मनोविकार तो प्रायः सभी के हृदयों में उठा करते हैं, परन्तु उनको प्रकट करने के लिए भाषा का सहारा लेना पड़ता है—और यदि भाषा बलवती न हुई तो सारा खेल बिगड़ जायेगा तथा सारे करे-कराये पर पानी फिर जायगा। अतएव इस दृष्टि-कोण से भाषा का महत्व भावों से कुछ कम नहीं ठहरता।

संस्कृत में इस प्रकार की एक आख्यायिका भी प्रचलित है। एक सूखे हुए पेड़ को देखकर दो भिन्न-भिन्न कवियों ने अपने भिन्न भिन्न उदाहरण प्रगट किये। एक ने कहा—

"शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे"

और दूसरे ने कहा—

"नीरस तरुरिह विलसति पुरतः"

एक ही वस्तु का वर्णन दो भिन्न भिन्न सूक्तियों में किया गया है, पर दोनों में कितना अन्तर है। जो रस दूसरे कवि की वाणी में है; वह पहले की वाणी में नहीं।

अब हम संक्षेप में उत्तम भाषा के गुणों पर यिचार करेंगे। उत्तम भाषा का सर्व प्रधान गुण तो यह है कि लेखक या कवि उसके द्वारा अपने भावों को पूर्णतः प्रकट कर सके। सुन्दर-सुन्दर शब्दों को क्रमानुसार और आवश्यकतानुसार गूँथकर एक ऐसी माला प्रस्तुत करना कि जिसके दिग्दिगन्त तक सौरभित हो उठे कवि की एक महान् विशेषता है। प्रायः प्रत्येक शब्द के पर्याय-वाची शब्द होते हैं; पर किस शब्द का किस स्थान पर प्रयोग किया जाय, यह कुशल शब्द-शिल्पी ही जानता है। भाषा वही उत्तम है, जिसमें भावों को प्रकट कर सकने की पूर्ण क्षमता हो। मतलब की बात बहुत थोड़े से शब्दों में प्रकट कर देना भी भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है। भाषा में सरलता भी चाहिए, दुरूह शब्दों का प्रयोग करना ज्ञान का द्योतक नहीं, बल्कि उपहासास्पद है। उत्तम भाषा में अलंकारों का प्रादुर्भाव आप ही आप होता है। उन्हें लाने के लिये लेखक या कवि को कुछ प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इन सब गुणों के साथ-साथ भाषा में मधुरता भी चाहिए। जब कर्ण-कुहरों में मधुर-भाषा की पीयूष वृष्टि होने लगती है, तब आनन्दातिरेक से मानस-पयोधि उमड़ उठता है। पर हाँ, वीररस का वर्णन करते समय उसके अनुरूप शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिये, जिससे भाषा में ओज का आविर्भाव हो सके।

महाकवि पद्माकर का रीतिकालीन कवियों में विशिष्ट स्थान

है। उनकी कविता का प्रचार जन साधारण में भी बहुत अधिक है। पद्माकर ने ब्रजभाषा में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं और ब्रजभाषा की जो श्री वृद्धि की है वह किसी से छिपी नहीं है। अब हम इनकी भाषा को कसौटी द्वारा परखने का प्रयास करेंगे।

यों तो रीतिकाल में हमें ब्रजभाषा का परिमार्जित रूप अवश्य प्राप्त होता है, पर साथ ही उसमें व्याकरण की अशुद्धियाँ भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती हैं। वाक्य रचना तो बहुत ही थोड़े से कवियों की सुव्यवस्थित पाई जाती है। भाषा की गड़बड़ी का प्रधान कारण काव्य में ब्रज और अवधी का सम्मिश्रित रूप प्रकट करना भी है। यह हम अवश्य मानते हैं कि एक सामन्य साहित्यिक भाषा अपने किसी प्रदेश विशेष के प्रयोग तक ही सीमित नहीं रह सकती, उसमें दूसरे प्रदेश की भाषाओं का प्रभाव अवश्य पड़ेगा, पर कम-से-कम ढाँचे में तो परिवर्तन न होना चाहिए। रीतिकालीन ग्रंथों पर प्रायः इसीलिए अवधी की स्पष्ट छाप दृष्टिगोचर होती है। मिश्रित भाषा के विषय में दास जी का मत है—

ब्रजभाषा भाषा रुचिर कहे सुमति सब कोइ।
मिलै संस्कृत पारस्यो, पै अति प्रगट जु होइ॥
ब्रज, मागधी मिलै अगर नाग यवन भाखानि।
सहज पारसी हू मिलै, षट विधि कहत बखानि॥

और अपने इस कथन के प्रमाण में दास जी कहते हैं कि तुलसी और गंग तक ने जो कि कवियों के शिरोमणि गिने जाते हैं ऐसी भाषा का उपयोग किया है—

तुलसी गंग दुवौ भए, सुकविन के सरदार।
इनके काव्यन में मिली' भाषा विविध प्रकार॥

इस प्रकार से ब्रजभाषा में दूसरी भाषाओं के शब्द तो आये ही; पर साथ ही दूसरी भाषा के कारक चिन्हों और क्रिया के रूपों का भी कवियों ने स्वेच्छानुसार व्यवहार किया। उदाहरणार्थ 'करना' के भूतकाल के लिए कवियों ने 'कियो', 'कीनो', 'करयो', 'कीन' बल्कि 'किय' तक का उपयोग किया। इससे भाषा को वह स्थिरता न प्राप्त हो सकी जो कि एक साहित्यिक भाषा के लिए आवश्यक थी।

महाकवि पद्माकर उत्तमभाषा का प्रयोग करने में सिद्ध-हस्त थे। उन्होंने भावों के अनुरूप ही भाषा का प्रयोग किया है और इसीलिए कहीं-कहीं वे बड़े ही सुंदर चित्र प्रस्तुत कर सके हैं। सरल, मधुर और प्रचलित शब्दों का चयन वे बड़ी बुद्धिमत्ता से करते थे। वाक्य विन्यास भी सहज और आकर्षक होता था। आचार्य शुक्ल जी ने पद्माकर की भाषा के सम्बन्ध में लिखा है— "भाषा की सब प्रकार की शक्तियों पर इनका अधिकार दिखाई पड़ता है। कहीं तो इनकी भाषा स्निग्ध, मधुर, पदावली द्वारा एक सजीव भावभरी प्रेममूर्ति खड़ी करती है, कहीं भाव या रस की धारा बहती है, कहीं अनुप्रास की मिलित झंकार उत्पन्न करती है, कहीं वीरदर्प के समान अकड़ती और कड़कती हुई चलती है और कहीं प्रशांत सरोवर के समान स्थिर और गंभीर होकर मनुष्य जीवन की विश्रान्ति की छाया दिखाती है। सारांश यह कि इनकी भाषा में वह अनेक रूपता है जो एक बड़े कवि में होनी चाहिए। भाषा की ऐसी अनेकरूपता गोस्वामी तुलसीदास जी में दिखाई पड़ती है।"[1]

पद्माकर ने लाक्षणिक शब्दों का भी प्रयोग किया है और

१—दे०—हिंदी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ [३०९-३१०]

अव्यक्त होने वाली कई भावनाओं को ऐसा मूर्तिमान रूप प्रदान किया है कि उनकी लाक्षणिकता की प्रशंसा मुक्तकण्ठ से करनी ही पड़ती है। इनके वर्णनात्मक कवित्तों में अनुप्रास की दीर्घ शृङ्खला भी दृष्टिगोचर होती है। वास्तव में पद्माकर की भाषा दीपमालिका के समान समुज्जवल और जगमगाती हुई है। कुछ उदाहरण देखिए :—

आरस सों आरत, सँभारत न सीस पट,
गजब गुजारति गरीबन की धार पर।
कहै पदमाकर सुरा सों सरसार तैसे,
बिथुरि बिराजैं बार हीरन के हार पर॥
छाजत छबीले छिति छहरि छरा के छोर,
भोर उठि आई केलि मंदिर के द्वार पर।
एक पग भीतर औ एक देहरी पै धरे,
एक कर कंज, एक कर है किवार पर॥

मधुर कल्पना और उत्तम भाषा के साथ साथ भावुकता का मिश्रण पद्माकर की काव्य कला कुशलता का द्योतक है। एक छंद और देखिए—

पाती लिखी सुमुखि सुजान पिय गोबिंद को,
श्रीयुत सलोने स्याम सुखनि सने रहौ।
कहै पदमाकर तिहारी छेम छिन-छिन,
चाहियतु प्यारे मन मुदित घने रहौ॥
बिनती इती है के हमेसहू हमें तो निज,
पायन की पूरी परिचारिका गनै रहौ।
याही में मगन मनमोहन हमारो मन,
लगनि लगाइ लाल मगन बनै रहौ॥

शब्दचयन इस छन्द की एक खास विशेषता है। वसन्त में बेचारी विरहिणी ब्रजांगनाओं की क्या दशा होती है, यह पद्माकर से सुनिए—

ब्रजचंद चलो किन वा ब्रज लूकें बसंत की ऊकन लागीं।
त्यों पदमाकर पेखौ पलासन पावक-सी मनौ फूकन लागीं॥
वै ब्रजवारी बिचारी बधू बनि बावरी लौं हिये हूकन लागीं।
कारी कुरूप कसाइनै ऐसी कुहू-कुहू क्वैलियाँ कूकन लागीं॥

नीर और क्षीर के समान भाषा और भाव का यहाँ इतना सुन्दर सम्मिश्रण है कि देखते ही बनता है। दोनों संयुक्त होकर इस प्रकार से एक हो गये हैं कि अलग हो ही नहीं सकते और विलग करने पर तो सारा आनन्द ही फीका पड़ जायगा।

अब पद्माकर का एक ओजपूर्ण उदाहरण देखिये :—

तीखे तेगवाही जे सिपाही चढ़ै छोड़न पै,
स्याही चढ़ैं अमित अरिंदन की ऐल पै,
कहै पदमाकर निसान चढ़ैं हाथिन पै,
धूरि धार चढ़ैं पाक सासन के सैल पै॥
साजि चतुरंग चमू जंग जीतिबे के हेतु,
हिम्मत बहादुर चढ़त फर फैल पै।
लाली चढ़ै मुख पै, बहाली चढ़ै बाहन पै,
काली चढ़ै सिंह पै, कपाली चढ़ै बैल पै॥

उपर्युक्त उदाहरणों द्वारा पद्माकर का भाषा सौन्दर्य पूर्णतः प्रकट हो रहा है और ज्ञात होता है कि उनका ब्रजभाषा पर पूर्ण अधिकार था। अभी अभी हमने रीतिकालीन ब्रजभाषा पर प्रकाश डालते हुए लिखा था कि ब्रजभाषा में अवधी तथा अन्य कई दूसरी भाषाओं के शब्दों का समावेश हुआ है तथा साथ ही

कारक चिह्नों और क्रिया के रूपों में भी परिवर्तन हुआ है। इस कवि निरंकुशता के फलस्वरूप भाषा कहीं-कहीं इतनी अधिक सदोष हो गई है कि कुछ कहते नहीं बनता। इसके अतिरिक्त अनुप्रास की प्रवृत्ति द्वारा भी भाषा में दोषों का आविर्भाव हुआ है। महाकवि पद्माकर भी इस प्रवृत्ति से बच नहीं सके। शब्द-चमत्कार प्रकट करने की प्रवृत्ति उनमें विद्यमान थी और इसीलिए कहीं-कहीं उनकी भाषा दोषपूर्ण हो गई है और ऐसा प्रतीत होता है मानों वे भाषा के साथ खिलवाड़ कर रहे हैं। अनुचित अनुप्रासों के बोझ से भाषा को शिथिल कर देना पद्माकर जैसे सत्कवि के लिए उचित न था। कुछ उदाहरण देखिए :—

१— गूँदि गेंदे गुलगज गौहरन गंज गुल,
गुपत गुलाबी गुल गजरे गुलाब पास;
खासे खसबीजन सुपौन पौन खाने खुले,
खस के खजाने खसखाने खूब खास खास।

२— तान की तरंग तरुनापन तरनि तेज,
तेल तूल तरुनि तमोल ताकियतु है।

३— कहैं पद्माकर फरकत फरसबंद,
फहरि फुहारन की फरस फबी है फाब;
गोल गुल मादी गुल गिलमें गुलाब गुल,
गजक गुलाबी गुल गिंदुक गुले गुलाब।

४— काल की कुटुंबनि कला है कुल्लि कालिका की,
कहर की कुंतकी नजरि कछवाहे की;
ज्वाला की जलन सी जलाकजंग जालन की,
जोर की जमा है जोम जुलुल जिलाहे की।

५— गुलगुली गिलमैं गलीचा हैं गुनीजन हैं
चाँदनी हैं चिक हैं चिरागन की माला है;
कहैं पदमाकर त्यों गजक गजा है सजी,
सेज है सुराही है सुरा है और प्याला है।

६— झुकि-झुकि, झूमि-झूमि, झिल-झिल, झेल-झेल,
झरहरी झाँपन में झमकि-झमकि उठै।

७— देखौ दिच्छ दिच्छन प्रतच्छ निज पच्छिन के,
लच्छन समच्छ भय भच्छिबो करत है।

इस प्रकार के बहुत से उदाहरण पद्माकर की रचनाओं में उपलब्ध होते हैं। 'हिम्मत बहादुर विकदावली' में तो पद्माकर ने इनकी अति-सी कर दी है। कोई भी सहृदय इस प्रकार से अनुप्रासों के फेर में पड़कर भाषा को विकृत कर देना पसन्द न करेगा।

पद्माकर की भाषा में दूसरा दोष उनकी निरंकुशता के फल-स्वरूप आ गया है। यों तो प्रायः प्राचीन सभी कवियों ने शब्दों के रूपों में मनमाना परिवर्तन कर दिया है; पर इतना नहीं। पद्माकर ने तो शब्दों को बहुत ही अधिक तोड़ा मरोड़ा है, जिससे कहीं-कहीं तो अर्थ का अनर्थ भी हो गया है। कुछ उदाहरण देखिए :—

१— कहै पदमाकर गयल में विश्राम सों,
सरोजने के दाम सो जो सरद **समंत** में।

२— कहै पदमाकर परागन में पौनहूँ में,
पानन मैं पीक में पलाशन **पगंत** है॥

३— ग्वाल सो बोलि गोपाल कह्यो-
सु **गुवालिनि** पैं मनोमोहिनी डारी।

४— कहै पदमाकर सुनौ तौ हालहामी भरौ,
लिखौ कहौ लैकै कहूँ कागद कलम **दोत**।

५— जामें बही बही फिरी बही **चित्र श्रो गुपित्र** की।

६— त्यों पदमाकर गावतीं गीत रिझावती भाव बताय **नबीने**।
छोटी सी छाती छुटी अलकैं अति वैस की छोटी बड़ी **परबीने**॥

७— रूप के गुमान **तिल उत्तमा** न आनै उर,
आनन निकाई पाई चंद्र किरनै नहीं।

८— कहै पदमाकर उजागर गोविन्द जो पै,
चूकिगे कहूँ तो एतो रोष **रागियतु** है।

९— नीर के तीर उसीर के मंदिर धीर समीर जुड़ावत **जीरे**।
ग्रीषम की क्यों गनै गरमी गजगौहर चाह गुलाब **गँभीरे**॥

१०— ये अलि या बलि के अधरान में,
अनि चढ़ी कछु **माधुरई** सी।
ज्यों कुच त्यों ही नितंब चढ़े कधु,
ज्यों ही नितंब त्यो **चातुरई** सी॥

११— धोय गई केसर कपोल कुच **गोलन** की,
पीक लीक अधर **अमोलन** लगाई है।

१२— इक मीन बिचारी बिंध्यो **बनसी**,
पुनि जाल के जाय दुमाले परयो।

१३— कहै पदुमाकर सुपास ही गुलाब पास,
खास खस खास **खसबोइन** के ढेरे हैं।
त्यों गुलाब नीरन सों हीरन के हौज भरे,
दंपति मिलाय हित आरती **उजेरे** हैं॥

१४— रति विपरीति रची दंपति **गुपति** अति,
मेरे जान मानि भय मनमथ नेजे तें।

कहै पदमाकर पगी यों रस रंग जामैं,
खुलिगे सु अंग सब रंगन अमेजे तें ।

१५— या बिधि साँवरे रावरे की न मिले मरजी न मजा न मजाखें ।।

१६— पंचई मुदिता षष्टई, है अनुसयना सोय ।

१७— राधिका की कहवत कहि दीजो मोहन सों,
रसिक शिरोमणि कहाय धौं कहा कियो ।

१८— छाय बिछाय पुरैन के पातन लेटती चंदन की चवको में ।

१९— उठे अंकुरे प्रेम के, मनहु हेम के खेत ।

२०— बावरी लौं बूझति बिलोकित कहाँ तू वीर,
जानै कहा कोऊ, प्रेम प्रेम हटवारे की ।

२१— श्रवण चित्र शुभ स्वप्न मैं पुनि परतच्छ निहारि ।

२२— कबहुँ कहा पीकन लगे, पिक पापी चहुँ ओर ।

उपर्युक्त उद्धत अंशों द्वारा स्पष्ट है कि पद्माकर की कविता में शब्द कितने बेढंगे तरीके से तोड़े-मरोड़े गये हैं। हिमन्त के अनुप्रास के हेतु 'समय' को 'समन्त' कर दिया गया है, 'होत' के अनुप्रास के लिए 'दावात' को 'दोत' बना दिया गया है और चरित्र की तुक बैठालने के लिए 'चित्र औ गुपित्र' की रचना की गई है। इसी प्रकार माधुरी-मधुराई के लिए 'माधुरई'; चातुरी-चतुराई के लिए 'चातुरई', गुप्त के लिए 'गुपति', षष्ट के लिए 'षष्टई' और रंगामेजी के लिए 'रंगन अमेजे' का प्रयोग किया गया है। 'खसबोयन' सरोखे फारसी शब्दों को भी पद्माकर ने स्वीकार किया है।

इस प्रकार विचार करने पर यही विदित होता है कि पद्माकर भाषामर्मज्ञ थे और कहीं कहीं तो उन्होंने भाषा सौंदर्य के सुंदर संदर चित्र भी प्रस्तुत किए हैं; पर उनकी कविताओं में ऐसे

ख्यालों की भी न्यूनता नहीं है जो हमारे इस कथन के अपवाद-स्वरूप हैं। यदि पद्माकर की कविता में ये दोष न होते तो वह निश्चय ही सर्वश्रेष्ठ कही जा सकती थी; पर फिर भी उन्होंने हिन्दी की जो सेवा की है वह प्रशंसनीय है और ब्रजभाषा के कवियों में तो उनका आदर्णीय स्थान है ही।—

---

१०. महाकवि पद्माकर की भाव-व्यञ्जना

प्रसिद्ध समालोचक जेम्स हेनरी लिफ् हंट (James Henry Leigh Hunt) ने (An answer to the question what is poetry ?) नामक अपने प्रसिद्ध निबन्ध में एक स्थल पर लिखा है—"Every poet, then, is a versifier, every fine poet an excellent one; and he is the best whose verse exhibits the greatest amount of strength, sweetness, un-superflousness, variety, straight for wardness and oneness." (प्रत्येक कवि पद्य रचियता है और प्रत्येक अच्छा कवि उत्कृष्ट पद्य-रचियता है, किन्तु सर्वोत्तम कवि वही है जिसके पद्य में समर्थता, मधुरता, अव्यर्थ पद्त्व, रोचकता, प्रवाह एवं पद्य और भाव की सामंजस्यपूर्ण एकता हो।)

किसी भी कवि या कविता की समीक्षा करते समय उपर्युक्त अवतरण से पर्याप्त सहायता मिलती है और इस परिभाषा के के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि अमुक कविता में कौन-कौन से गुण हैं या दोष हैं। उपर्युक्त अवतरण में वर्णित तत्त्वों के साथ साथ कविता के प्रयोजनों में आनन्द का भी प्रमुख स्थान माना जाता है। कविता में सौन्दर्य की भी उपासना की जाती है और इसी सौन्दर्य द्वारा आनन्द की भी उपलब्धि होती है।

'मम्मट' ने तो आनन्द को ही कविता का सर्वश्रेष्ठ प्रयोजन माना है[1] तथा बर्डस्वर्थ का मत है कि 'कविता का उद्देश्य यह है कि विस्मय और आनन्दातिशय का एक ही साथ आविर्भाव हो।"[2] किन्तु काव्य में इन समस्त गुणों का प्रादुर्भाव तभी हो सकता है जब कि कवि की भाव-व्यंजना भी श्रेष्ठतम हो। काव्य में 'भावों' का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है तथा भावहीन कविता को तो कविता ही नहीं कहा जाता। यदि कवि की भाव-व्यंजना सुदृढ़ और सरस न हुई तो फिर कविता में किसी भी प्रकार के गुणों का आविर्भाव न हो सकेगा। इस प्रकार कविता में भावों की श्रेष्ठता पर विचार करने के उपरांत अब हम रीतिकाल के यशस्वी कवि पद्माकर की भाव-व्यंजना पर प्रकाश डालेंगे।

पद्माकर रीतिकाल के प्रशंसनीय महाकवियों में से हैं तथा हिम्मतबहादुरुविरुदावली, पद्माभरण, जगद्विनोद, प्रबोधपचासा और गंगालहरी उनकी उल्लेखनीय कृतियां है। इनके साथ-साथ उनके बहुत से स्फुट छन्द भी उपलब्ध होते हैं। पद्माकर के जीवन वृत्तान्तर पर एक विहंगम दृष्टि डालने से ही स्पष्ट हो जाता है कि वे एक दरबारी कवि थे अतएव अन्य अधिकांश रीतिकालीन कवियों की भाँति अपने आश्रयदाताओं की चाटुकारिता में ही उन्होंने अपनी कवित्व शक्ति व्यय की है। जिस राजा के दरबार

---

१. "..................सकल प्रयोजनमौलि भूतं समनंतमेव रसास्वादन समुद्भूतं विगलितवेद्यांतरमानन्वं..........यत्काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म.............।" —मम्मट

२. "The end of poetry is to produce excitement in co-existence with an over balance of pleasure." —बर्डस्वर्थ

में वे जाते थे उसी की प्रशंसा में प्रशस्तियों का सृजन करते थे।[१] हिम्मतबहादुर को तो उन्होंने रुद्र, हरिश्चन्द्र, कवि-कुल-कमल दिवाकर तक माना है।[२] अन्य अधिकांश रीतिकालीन कवियों की भाँति पद्माकर की कविता में कवित्व के साथ-साथ आचार्यत्व की झलक भी देख पड़ती है यद्यपि उन्होंने नवीन सिद्धान्तों का निर्धारण कहीं नहीं किया है। हाँ, रस और अलंकारों पर लक्षण ग्रन्थों का सृजन कर उन्होंने परम्परागत कवि-कर्म को अवश्य पूर्ण किया है। 'पद्माभरण' में 'मंगलाचरण' में उन्होंने स्वयं ही स्वीकार किया है कि प्रस्तुत ग्रंथ-रचना का कारण कवि-परम्परा का निर्वाह ही है। देखिए—

राधा राधावर सुमिर, देख कबिन को पंथ।
कवि पद्माकर करत हैं, पद्माभरण सु ग्रंथ।

पद्माकर ने यद्यपि शृङ्गार रस का ही विस्तार के साथ वर्णन किया है और कृष्ण तथा राधा को नायक-नायिका के रूप में चित्रित कर समसामयिक कवि-परम्पराओं का निर्वाह किया है किन्तु कवि की भाव व्यंजना का जैसा निखरा हुआ रूप 'प्रबोध-

---

१. महाराज जगतसिंह की प्रशंसा में एक छंद देखिए—

छत्रिन के छत्र छत्रधारिन के छत्रपति,
छाजत छटानि छिति छेम के छवैया हो।
कहूँ 'पदमाकर' प्रभाव के प्रभाकर,
दया के दरियाव हिंद हद्द के रखैया हो॥
जागते जगतसिंह साहिब सवाई, श्री प्रताप,
नृपनंद कुलचंद रघुरैया हो।
आधै रहो राजराज राजन के महाराज,
कच्छ कुल कलस हमारे तो कन्हैया हो॥

२. देखिए—हिम्मत बहादुर बिरदावली, छंद सं० ३, १४।

पचासा' में दृष्टिगोचर होता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। एक उदाहरण देखिए—

> व्याध हू तें बिहद असाधु हौं अजामिल तें,
> ग्राह ते गुनाही कहो तिनमें गनाओगे।
> स्योरी हौं न सुद्र हूँ न केवट कहूँ कौ, त्यौं न,
> गोतम तिया हौ जायें पग धरि आओगे॥
> राम सों कहत 'पद्माकर' पुकारि तुम,
> मेरे महा पापन को पार हू न पाओगे।
> सीता सी सती को तज्यो झूठोही कलंक सुनि,
> साँचौ हौं कलंकी ताहि कैसे अपनाओगे॥

यहाँ कवि अपनी हृदगत भावनाओं को बड़ी कुशलता के साथ व्यक्त कर सका है। भक्त की भावना तो देखिए; वह यह सोचता है कि जब प्रभु ने मिथ्या-दोषारोपण से ही सीता को त्याग दिया था तब भला वे एक वास्तविक पापी को कैसे अंगीकार कर सकते हैं। अपने आपको भक्त कहने का वह साहस ही नहीं कर पाता और स्वयं ही अपने दोषों को स्वीकार कर लेता है। उसकी जीवन-नौका भी मँझधार में पड़ी हुई है और तूफान से डगमगा रही है। भक्त को इस समय अवलम्ब की आवश्यकता प्रतीत होती है और उसे अपने इष्टदेव राम पर पूर्ण विश्वास भी है। वह कहता है—

> प्रलय पयोनिधि लौं लहरैं उठन लागीं,
> लहरा लग्यों त्यों होन पौन पुरवैया को।
> भीर भरो झाँझरी बिलोकि मँझधार परी,
> धीर न धरात पदमाकर खेवैया को॥
> कहा वार कहा पार जानी है न जात कछु
> दूसरो दिखात न रखैया और नैया को।

बहन न पैहै घेरि घाटहिं लगैहैं ऐसो,
अमित भरोसो मोहिं मेरे रघुरैया को ।।

किसी भी कवि को उसी समय विशेष सफलता प्राप्त हो पाती है जब कि वह पाठकों को अपने अंतस्तल तक ले जाता है। पद्माकर में वह विशेषता विद्यमान थी तथा पाठकों को अपने अंतस्तल तक ले जाने में उन्हें विशेष सफलता भी प्राप्त हुई है। देखिए—

हानि अरु लाभ ज्यान जीवन अजीवन हू,
भोग हू बियोग हू संयोग हू अपार है।
कहै पदमाकर इतै पै और केतो कहो,
तिनको लख्यो न वेद हू में निरधार है ।।
जानियत याते रघुराय की कला को कहूँ,
काहू पार पायो कोऊ पावत न पार है।
कौन दिन कौन छिन कौन घरी कौन ठौर,
कौन जाने कौन को कहा धों होनिहार है ।।

'प्रबोध पचासा' की भाँति 'गंगालहरी' में भी उन्होंने संसार की व्यर्थता और सारहीनता चित्रित की है। भक्ति विषयक छंदों में कवि ने अपनी आत्मानुभूति का ही विशेष रूप से चित्रण किया है। वस्तुतः विषम और विकट परिस्थितियों में पड़ जाने पर उनके मानस में जो आत्मग्लानि जाग्रत हुई उसी से कवि को इन छंदों के रचने की प्रेरणा प्राप्त हुई है। इतना होते हुए भी पद्माकर की देव-स्तुतियों और भक्ति परक रचनाओं की भावव्यंजना निखरी हुई है।

जैसा कि कहा जा चुका है। अन्य रीति कालीन कवियों की भाँति पद्माकर ने भी शृंगार रस का विशेषरूप में वर्णन किया है। संयोग और वियोग दोनों प्रकार के छंद उनकी कृतियों में बहुलता

के साथ दृष्टि-गोचर होते हैं। श्याम के प्रति गोपियों का किस प्रकार का प्रेम था; इसकी झलक प्रस्तुत छंद में देखिए—

गोकुल के, कुल के, गली के, गोप गाँवन के,
जौ लगि कछु को कछु भारत बनै नहीं।
कहैं 'पदमाकर' परोस पिछवारन के,
द्वारन के दौरे गुन औगुन गनै नहीं॥
तौ लौं चलि चातुर सहेली! याही कोद कहूँ,
नीकें कै निहारैं ताहि, भरत मनै नहीं।
हौं तो स्याम रंग में चोराइ चित चोरा चोरी,
बोरत तो बोर्‌यो, पै निचोरत बनै नहीं॥

पद्माकर अपनी सूक्तियों में इतना सुंदर सजीव मूर्ति-विधान करते थे कि उनकी इस भाव-मूर्ति-विधायनी-कल्पना की मुक्तकंठ से सराहना करनी ही पड़ती है। विप्रलंभ की विभिन्न मनोदशाओं का भी हृदयस्पर्शी चित्रण वे प्रस्तुत कर सके हैं। पद्माकर की अभिव्यंजन-शैलियाँ भी सराहनीय हैं। देखिए—

आई संग अलिन के ननद पठाई नीठि,
सोहत सोहाई सीस ईंगुर सुपट की।
कहै 'पदमाकर' गंभीर जमुना के तीर,
लागी घट भरन नवेली नेह अटकी॥
ताही समय मोहन सु बाँसुरी बजाई, तामें,
मधुर मलार गाई और बंसीवट की।
तान रहे लट की, रही न सुधि घूँघट की,
घर की, न घाट की, न बाट की, न घट की॥

इस प्रकार का सुन्दर सजीव चित्रण पद्माकर के कई छंदों में उपलब्ध होता है; जिनमें भावों की गंभीरता के साथ साथ मधुर कल्पना का स्पन्दन भी है। पद्माकर में मानस की स्वाभाविक

प्रेरणा भी थी, केवल ऊहा के बल पर ही वे भावव्यंजना नहीं करते थे। यह अवश्य है कि ऋतुवर्णन विषयक छन्दों में भावों की गंभीरता का अभाव है तथा कहीं कहीं केवल शब्दाडम्बर मात्र ही पाया जाता है किन्तु वर्णन-वैचित्र्य के कारण मित्रभिन्न भावों का उद्रेक तो हो ही जाता है। पद्माकर की भावाभि-व्यक्ति में नवीनता भी दृष्टिगोचर होती है और कहीं कहीं उन्होंने सर्वथा नूतन भावों की ही अभिव्यंजना की है। संयोग के समय की सुखदायी वस्तुएँ वियोगावस्था में प्रायः दुःख देने वाली ही मानी जाती हैं तथा अधिकांश कवियों ने इस विषय में सुंदर मर्मस्पर्शी भावव्यंजना भी की है। किन्तु पद्माकर का विचार है कि वे पदार्थ जो कि साधारणतः सुखदायी प्रतीत नहीं होते प्रिय-समागम के समय या प्रिय-मिलन के अवसर पर सुखदायी प्रतीत होते हैं—

दिन के किवारि खोलि कीनो अभिसार, पै
न जानि परी काहू कहाँ जाति चली छल सी।
कहैं 'पदमाकर' न नाँक री संकोरे जाहि,
काँकरी पगनि लगै पंकज के दल सी।

कामद सो कानन कपूर' ऐसी धूरि लगे,
पट सो पहार नदी लागत है नल सी।

घाम चाँदनी सो लगै चंद सो लगत रवि,
मग मखतूल सो मग्री हू मखमल सी।

यद्यपि पद्माकर रीतिकाल के उल्लेखनीय कवियों में माने जाते हैं तथा उनकी भावव्यंजना की सराहना भी की जाती है। किन्तु उनकी कृतियों में भावशून्य छंदों की न्यूनता भी नहीं है। यह अवश्य है कि पद्माकर में प्रतिभा थी, भाषा पर उनका अधिकार था और यदि वे चाहते तो साधारण से साधारण भावों को भी जगमगा सकते थे परन्तु भाषा के समान ही भावव्यंजना

में भी सर्वत्र ही उनकी विरोधिनी प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। कदाचित इसीलिए उनके अधिकाँश छंदों में कोरा शब्दाडम्बर मात्र ही दृष्टिगोचर होता है। पद्माकर की कुछ यह प्रवृत्ति सी हो गई थी कि वे अपने भावों को घुमा फिराकर अनेक बार वर्णित करते थे। 'गंगालहरी' में तो इसकी कुछ सीमा ही नहीं है !! प्रौढ़ावस्था में कविता में भी प्रौढ़ता आनी चाहिए थी और भावों में नवीनता का प्रादुर्भाव होना भी आवश्यक था किन्तु पद्माकर ने तो एक ही प्रकार के 'भाव' कई छंदों में अंकित किये हैं। देखिये निम्नाकित छंदों में गंगा के प्रभाव से यमराज, उनके सेवकों और चित्रगुप्त की जो दुर्दशा हुई है उसी की बार बार पुनरा वृत्ति की गई है—

१— जकि से रहे हैं जम थकि से रहे हैं दूत,
दूनी सब पापन के उठी तन ताप है।
बाँचि बही वाकी गति देखि कै विचित्र रहे,
चित्र कैसे लिखे चित्रगुप्त चुपचाप है॥

२— गंगा के चरित्र लखि भाष्यो जमराज यह,
एरे चित्रगुप्त मेरे हुकुम में कान दै।
कहै 'पदमाकर' नरक सब मूंदि करि,
मूंदि दरवाजेन को तजि यह थान दै॥
देखु यह देवनदी कीन्हें सब देव यातैं,
दूतन बुलाई कै बिदा के बेगि पान दै।
फारि डारु फरद न राखु रोजनामा कहूँ,
खाता खत जान दै बही को बहि जान दै॥

३— छेम की छहर गंगा रावरी लहर,
कलिकाल को कहर जमजाल को लहर है॥

४ — जमपुर द्वार लगे तिनमैं किवारे कोऊ,
हैं न रखवारे ऐसे बन के उजेरे हैं।

५—पापिन की पाँति भाँति भाँति बिललाति परी,
जम की जमाति हलकंपनि सी हिलति है।

६— दूत दबकाने चित्रगुप्त चुपकाने,
औजकाने जमजाल पापपुंज लुंज ह्वै गए।

७— कहै पदमाकर प्रयास बिन पावै सिद्धि,
मानत न कोऊ, जमदूतन की दाह अब।
कागद करम करतूति के उठाय धरे,
पचि पचि पेंच मैं परे हैं प्रेत नाहि अब ॥

८— जम को न जोर जब पापिन पै चल्यो तब,
हाथ जोरि गंगाजू सो चुगली करैं खरें।

९— जा दिन ते भूमि माँहि भगीरथ आनी यह,
जानी गंगधारा या अपारा सब काज की।
ता दिन तें जानी सी-बिकानी बिलसानी-सी,
बिलानी सी दिखानी राजधानी जमराज की।

१०— जम के जसूस बिनै जम सों हमेस करैं,
तेरी ठाकुरी को ठीक नेकु न निहारो है।
बड़े बड़े पापी औ सुरापी द्विजतापी तहाँ,
चलन न पावै कहूँ हुकुम हमारो है ॥
कहै पदमाकर सुब्रह्मलोक बिष्णुलोक,
नामलैके कोऊ सिवलोक को सिधारो है।
बैठी सीसनंगा के तरंगा ह्वै अभंगा ऐसी,
गंगा ने उठाइ दीन्हों अमल तिहारो है ॥

११— दगा देत दूत चुनौती चित्रगुप्त देत,
जम को जरब देत पापी लेत सिवलोक।

१२— जहाँ जहाँ जम की जमाति कीन्हीं करामाति,
तहाँ तहाँ फिरै देखि गंगा की दुहाई है।

१३— जौ लौं लगे कागद बिचारन कछुक तौ लौं,
ताके कान परी धुनि गंगा के चरित्र की।
ताके सीस ही तें ऐसी गंगाधार बही जामें,
बही बही फिरी बही चित्र औ गुपित्र की॥

उपर्युक्त १३ उदाहरणों में कवि ने एक ही प्रकार के भावों की विचारों की—पुनरावृत्ति की है। हो सकता है कि एक छंद में जो भाव हो वह दूसरे में कुछ परिवर्द्धित और संशोधित होकर आया हो परन्तु तो भी प्रमुख विचार- मुख्यभाव—एक ही प्रकार का है। इस प्रकार से विदित होता है कि कवि का बिचार क्षेत्र संकुचित है और भावव्यंजना करते समय नए-नए भाव उसके इंगितानुसार करतल बद्ध हो सामने नहीं आ जाते वरन् कवि को अपने थोड़े से ही विचारों से—भावों से अपना काम निकालना पड़ता है। साथ ही इन उदाहरणों में संस्कृत के निम्नांकित श्लोक से भी सहायता ली गई है—

तव शिवजलजालं निःसृतं यर्हि गङ्गे,
सकलभुवनजालं पूतपूतं तदाऽभूत।
यमभटकलिवार्ता देवि लुप्ता यमोऽपि
व्याधिकृत वरदेहाः पूर्णकामा सकामा॥

श्रीकृष्णबिहारी मिश्र ने तो माधुरी वर्ष ८, खंड १, संख्या १ में सम्पादकीय विचार के अंतर्गत पद्माकर पर विचार करते समय लिखा है कि उन्होंने ग्वालकवि की यमुना लहरी से भी भाव ग्रहण किए हैं। ग्वाल के उदाहरण देखिए—

१ – ग्वाल कवि अधिक अनीतें विपरीतें भईं,
दीजियै तुराय बेगि-कुलुक निवारे को।
हमुना लिखैंगे बही गमुना सु खैहैं हम,
जमुना बिगारै देत कागद हमारे को॥

२— लेखा भए ड्योढ़े रोजनामा को परेखौ कौन,
खाता भयो खतम फरद रद्द ह्वै गई।

आचार्य शुक्ल जी के मतानुसार पद्माकर का देहान्त संवत् १८९० में कानपुर में गंगा तट पर हुआ और गंगालहरी की रचना उन्होंने अपने जीवन के अंतिम सात वर्षों में की है। चूँकि ग्वाल कवि की यमुनालहरी संवत् १८७६ में लिखी गई थी अतः हो सकता है कि पद्माकर की गंगालहरी पर यमुनालहरी का प्रभाव पड़ा हो।

गंगालहरी लगभग पचास-पचपन छन्दों की लघु पुस्तिका है और हम देख चुके हैं कि उपर्युक्त तेरह उदाहरणों में केवल एक ही प्रकार की विचार धारा पाई जाती है। निम्नांकित उदाहरणों में भी कवि ने केवल यही दिखाना चाहा है कि गंगास्नान के उपरान्त भक्त को शिवस्वरूप या शिवलोक प्राप्त हो जाता है। इन उदाहरणों में भी सर्वदा भावों की पुनरावृत्ति दृष्टिगोचर होती है। देखिए—

१— हौं तौं पंचभूत तजिबे को तक्यौ तोहि पर,
तैं तौ कर्यौ मोहि भलौ भूतन को पति है।
कहैं 'पदमाकर' सु एक तन तारिबे में,
कीन्हें तन ग्यारह कहौ सौ कौनि गति है॥
मेरे भाग गंग यहै लिखी भागीरथी तुम्हें,
कहियै कछुक तौ कितेक मेरी मति है।

एक भव सूल आयो मेटिबे को तेरे कूल,
तोहि तौ त्रिसूल देत वार न लगति है ।।

२— लैहै छीनि अंबर दिगंबर कै जोरावरी,
बैल पै चढ़ाय फेरि सैल पै चढ़ावैगी ।
मुंडन के माल की भुजंगन के जाल की,
सुगंगा गजरवाल की खिलति पहिरावैगी ।।

३—जाहु नहि पंथी उत विपति विशेषि होति,
मिलैंगी महान कालकूट खान पान में ।
कहै पदमाकर भुजंगनि बँधैगे साँप,
संग में सुभारी भूत चलेंगे मसान में ।।
कमर कसैंगे ततकाल गजखाल, बिन,
अंबर फिरैगो तू दिगंबर दिसान में ।

४— जौं लौं चतुरानन चितैबे चारों ओर तौ लौं,
वृष पै चढ़ाई लै गयोई वृषपति है ।

५ – मीच समै तेरे उत आय गए कंठ इत,
ब्यापि गयो कंठ कालकूट सो जहर है ।
आप चढ़ी सीस मोहिं दीन्हीं बकसीस,
औ हजार सीसवारे की लगाई अटहर है ।
मोहिं करि नंगा अंगा अंगानि भुंजंगा बाँधो,
एरी मेरी गंगा तेरो अद्‌भुत लहर है ।

६— मुँडन की माल देखो भाल पर ज्वाल की बो,
छीनि लीबो अम्बर अंडबर जहाँ जैसो ।
कहै पदमाकर त्यों बैल पर चढ़ाइबो,
उढ़ाइबो पुरानी गजखाल को भलो तैसो ।
नंगा करि डारिबो सुभंगा भखि डारिबो,
सुगंगा दुख मानिबो न बूझै तै कछू वैसो ।

साँपन सिंगारिबो गरे मैं विष पारिबो,

सुतारिबो जु ऐसौ तौ बिगारिबौ कहौ कैसो।

गंगाजी में स्नान करने से भक्त शिव हो जाता है—उसे शिवलोक प्राप्त होता है—इस भाव को ही पद्माकर ने बार-बार थोड़े हेर फेर के साथ इन छै छंदों में वर्णित किया है। इस प्रकार से यह पूर्णतः सिद्ध हो जाता है कि पद्माकर की विचार धारा संकुचित थी और अपने भावों की पुनरावृत्ति करना ही उन्हें पसन्द था। किसी भी सत्कवि की भावव्यंजना में इस प्रकार के दो दोष अपेक्षित नहीं माने जा सकते।

अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि पद्माकर की कृतियों में मौलिकता का कितना अंश है। कितने भाव उनके निजी हैं और कितनों का उन्होंने अपहरण किया है अर्थात् ऐसे कितने कवित्त हैं जिनमें कि उनके स्वतन्त्र विचारों का आभास होता है और कितने ऐसे हैं जिनमें कि पूर्ववर्ती कवियों की विचार धारा की झलक देख पड़ती है। यों तो कवियों के मध्य सर्वदा ही आदान-प्रदान होता रहता है और प्रत्येक परवर्ती कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों के विचारों से लाभ उठाता है परन्तु विशेषता इस बात में पाई जाती है कि जो भी भाव ग्रहण किए जाँय उन्हें कुशलता के साथ और अपनी निजी शैली-विशेष द्वारा अभिव्यक्त किया जाय। उन भावों को ग्रहण कर उनकी अभिव्यंजना करने में भी सफलता अपेक्षित मानी जाती है। श्री विनयमोहन शर्मा 'साहित्य में मौलिकता' पर विचार करते हुए लिखते हैं—"जो साहित्यकार किसी के 'भावों की' शराब को उँडेलने के लिए भी अपनी बोतल तैयार नहीं कर सकता, वह सत्य साहित्यकार नहीं, साहित्यकार का दंभ रचता है।"

पद्माकर ने भी अपने पूर्ववर्ती कवियों के भावों को अपनाया है तथा उनके प्रसिद्ध ग्रंथ 'जगद्विनोद' के कई छन्द तो संस्कृत के प्राचीन कवियों के श्लोकों के अनुवाद-मात्र हैं। अमरुक और उद्भट के अनेक श्लोकों का अक्षरशः शब्दानुवाद ही कहीं कहीं उनकी रचनाओं में दृष्टिगोचर होता है।[1] यहाँ हम विस्तार भय से भाव-साम्य के अधिक उदाहरण देने तथा प्रत्येक छंद की विस्तृत व्याख्या करने में असमर्थ हैं। सादृश्यभाववाले छंद पूर्व वर्ती कवियों के उसी भाव वाले के साथ साथ हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं और दोनों का अध्ययन करने पर पद्माकर की भाव व्यंजना का यह दोष सरलता से स्पष्ट हो जायेगा। देखिए—

दृष्ट्वैकासन संस्थिते प्रियतमे पश्चापेत्यादरा—
देकस्या नयने निमील्य विहित क्रीडानुबन्धच्छलः ;
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा—
मन्तर्हासलसत्कपोल फलकां धूर्ताऽपरां चुम्बति।

—अमरुक

दोऊ छबि छाजती छबीली मिलिआसन पै,
जिनहिं बिलोकि रह्यो जात न जितै-जितै।
कहै 'पदमाकर' पिछौहैं आइ आदर सों,
छलिया छबीलो छैल बासर बितै-बितै॥

---

१. महाकवि पद्माकर और अमरुक के भाव साम्य के और अधिक उदाहरणों का अध्ययन करने के लिए देखिए—माधुरी वर्ष ५, खंड १, संख्या ४ में 'कविचर्चा' के अंतर्गत श्री चंद्रशेखर पांडेय का लेख।

मूँदे तहाँ एक अलबेली के अनोखे दृग,
सुदृग - मिचाउनी के ख्यालन हितै - हितै
नेसुक नवाइ ग्रीउ धन्य - धन्य दूसरी कौ,
औचक अचूक मुँख चूमत चितै - चितै ॥

—पद्माकर

बाले! नाथ! विमुञ्छ मानिनि रुषं शेषान्मया किं कृतं?
खेदोऽस्मासु, ने मेऽपराध्यति भवान सर्वेऽपराधामयि;
तत्किं रोद्दिषि गग्देन वचसा ? कस्याग्रतो रुद्यते ?
नन्वेतन्मम,का तवास्मि ? दयिता, नास्मीत्यतो रुद्यते!

—अमरुक

ए बलि कहौ हो किन,का कहत अंत, अरी
रोस तज, रोस कै कियो मैं का अचाहे कौ।
कहैं 'पद्माकर' यहै तो दुख दूरि करौ,
दोस न कछू है तुम्हें नेह निरबाहे कौ ॥
तो पै इत रोवति कहा हौ ? कहौ कौन आगे ?
मेरेई जु आगे किए आँसुन उमाहे कौ।
को हौं मैं तिहारी ? तू तौ मेरी प्रान प्यारी अजू,
होती जो पियारी तब रोती कहौ काहे को ॥

—पद्माकर

भगी देखि के संकि लंकेस बाला ;
दुरी दौरि मंदोदरी चित्रसाला।
तहाँ दौरिगो बालि को पूत फूल्यो ;
सबै चित्र की पुतिका देखि भूल्यो ।

—केशव

छूटी भाजी करते सु करके बिचित्र गति,
चित्र कैसी पूतरी न पाई चित्रसारी मैं।

—पद्माकर

ललितलाल लीला ललन बड़ी चिबुक छबि दून।
मधु छाक्यो मधुकर परचो मनो गुलाब-प्रसून॥

—बिहारी

जनु मलिंद अरबिंद बिच बस्यो चाहि मकरंद।
इम इक मृगमद बिंदु सो किए सुबस ब्रजचंद॥

—पद्माकर

लगे दुहुनि इक संग ही चलचित नैंन गुलाल।

—बिहारी

एकै संग धाए नंदलाल औ गुलाल दोऊ
दृगन गए हैं भरि आँनंद मढ़ै नहीं।

—पद्माकर

बाढ़त है अति पीर सुन काढ़े हू सु गुलाल।

—बिहारी

एरी मेरी बीर, जैसे - तैसे इन आँखिन तैं,
कढ़िगो अबीर, पै अहीर को कढ़ै नहीं।

—पद्माकर

मिलि बिहरत बिछुरत मरत दंपति अति रसलीन।
नूतन बिधि हेमंत-ऋतु जगत-जुराफा कीन॥

—बिहारी

जात-जुराफा है जियत तज्यो तेज निज भानु।
रूस रहे तुम पूस में यह धौं कौन सयान॥

—पद्माकर

निसि दिन स्रौनन पियूष-सो पियत रहै,
छाय रह्यो नाद बाँसुरी के सुर ग्राम को।
तरनि - तनूजा - तीर बन - कुंज-बीथिन मैं,
जहाँ तहाँ देखियत रूप छबि धाम को॥
कवि 'मतिराम' होत हाँ तो ना लिए तैं नेक,
सुख प्रेमगात को परस अभिराम को।
ऊधो तुम कहत बियोग तजि जोग करौं,
जोग तब करैं जो बियोग होय स्याम को॥[1]

—मतिराम

प्रानन के प्यारे तन ताप के हरन हारे,
नंद के दुलारे ब्रजवारे उमहत हैं।
कहै 'पदमाकर' उरुझे उरअंतर यों,
अंतर चहै हू जे न अंतर चहत हैं।
नैननि बसे है अंग अंग हुलसे हैं, रोम
रोमनि रसे हैं निकसे हैं को कहत हैं।

---

१. मतिराम के इस छंद का भाव देव ने भी अपनाया है—

जो न जी में प्रेम तब कीजै व्रत नेम जब,
कंख मुख भूलै तब संजम बिसेखिए।
आस नहीं पी की तब आसन ही बाँधियत,
सासन के सासन को मूँदि पति पेखिये॥
नख तें सिखा लौं सब प्रेममई बाम भई,
बाहिर लौं भीतर न दूजो देव देखिए।
जोग करि मिलैं जो बियोग होय बालम जू,
ह्यां न हरि होयँ तब ध्यान धरि देखिए॥

ऊधौ वै गोविन्द कोऊ और मथुरा में यहाँ,
मेरे तो गोबिंद मोहिं मोहिं में रहत हैं।
—पद्माकर

सकुचि न रहिए साँवरे सुनि गरबीले बोल।
चढ़ति भौंह, बिकसत नयन, बिहँसत गोल कपोल॥
—मतिराम

चढ़ति भौंह धरकत हियो हरषत मुख मुसकात।
मद छाकी तिय को जु पिय छबि छकि परसर गात॥
—पद्माकर

आजु को रूप लखे ब्रजराज को
आँखिन को फल आजु ही पायो।
—मतिराम

आज की या छबि देखि भटू
अब देखिबे को न रह्यो कछु बाकी।
—पद्माकर

काजर दे नहिं ए री सुहागिनी,
आँगुरी तेरी कटैगी कटाछन।
—आलम

कहा करौं जो आँगुरिन अनी घनी चुभ जाय।
अनियारे चख लखि सखी कजरा देत डराय॥
—पद्माकर

पाँव धरै अलि ठौर जहाँ, तेहि
ओर तें रंग की धार सी धावति।
मानो मजीठ की माठ ढुरी,
यक ओर ते चाँदनी बोरति आवति॥
—देव

धारति जहाँई जहाँ पग है सुप्यारी तहाँ,
मंजुल मजीठ ही की माठ-सी ढुरत जात।

—पद्माकर

चाहै सुमेर को छार करै, अरु
छार को चाहै सुमेरु बनावै।
चाहै तो रंक को राउ करै,
चहै राव को द्वार ही द्वार फिरावै ॥
रीति यही करुना निधि की,
कवि देव कहै बिनती मोहिं भावै।
चींटी के पाँयन में बाँधि गयंदहि,
चाहै समुद्र के पार लगावै।

—देव

द्यौस को राति करै जो चहै,
अरु रातिहू को करि द्यौस दिखावै।
त्यों पदमाकर सील को सिंधु,
पिपीलिका के बल फील फिरावै ॥
यों समरत्थ तनै दसरत्थ को,
सोई करै जो कछू मन भावै।
चाहै सुमेरु को राई करै,
रचि राई को चाहै सुमेरु बनावै ॥

—पद्माकर

उपर्युक्त उदाहरणों द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि पद्माकर की कृतियों में भाव साम्य के उदाहरणों की अधिकता सी है।

रीतिकाल को शृंगारकाल भी कहते हैं तथा रीतिकालीन

कवियों का प्रधान रस शृंगार ही था और उनकी भावनाएँ भी शृंगारी ही थीं। किन्तु शृंगार रस को रसराज मानते हुए भी कोई भी यह स्वीकार न करेगा कि शृंगार की ओट में कुरुचि उत्पादक वासनामूलक चित्रों को प्रस्तुत किया जाय। रीति कालीन कवियों ने परकीया नायिका और विपरीत रति के वर्णन में जिन भद्दे चित्रों को प्रस्तुत किया है। वे कविता कामिनी के कलित कलेवर को कलंकित करते हैं। पद्माकर में रीतिकालीन कवियों की सी भावनाएँ विद्यमान थी और उन्होंने भी कई अश्लील तथा भद्दे चित्रों को प्रस्तुत किया है। पद्माकर के इन निकृष्ट कुरुचि-उत्पादक छंदों में से दो तीन हम यहाँ उद्धत कर रहे हैं जिनसे स्पष्ट हो जायगा कि पद्माकर की मनोभावनाएँ कितनी अधिक वासनामूलक थीं—

ऊधम ऐसो मचो ब्रज में,
सबै रंग तरंग उमंगनि सींचैं।
त्यों पद्माकर छज्जनि छातनि,
छ्वै छिति छाजती केसरी कीचैं॥

पिचकी भजी भींजी तहाँ,
परे पीछे गोपाल गुलाल उलीचैं।
एक ही संग यहाँ रपटे सखी,
ए भए.................................।

आई भले द्रुत चाल तूँ चातुर,
आतुर मोहन के मन माई।
सौतिन के सर को पद्माकर,
पाई कहाँ धौं इती चतुराई॥

मैं न सिखाई सिखाईस मै नहिं,
यों कहि रैनि की बात जताई।

ऊपर ....,

सु हरे हँसि यों तसबीर दिखाई ।।

इसी प्रकार अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए पद्माकर ने कहीं कहीं अकारण ही, बिना किसी विशेष अवसर एवं प्रयोजन के विभिन्न वस्तुओं की परिगणना भी की है। आश्रयदाताओं की काम-वासना को उत्तेजित करने के लिए जहाँ अश्लील छंदों की रचना की है वहाँ साथ ही साथ ऋतुओं से उपाचार के नुस्खे भी तैय्यार किए हैं। 'जगद्विनोद' में फारसी कविता की परम्पराओं की झलक भी देख पड़ती है और कहीं कहीं तो कलेजा निकालने की भी चर्चा है तथा कहीं कहीं बाजारू औरतों के कामीजनों पर दुधारी तलवार चलाने का भी उल्लेख किया गया है।

इस प्रकार पद्माकर की भावव्यंजना में हमें सर्वत्र परस्पर विरोधिनी प्रवृत्तियाँ ही दृष्टिगोचर होती हैं। कहीं कहीं तो उन्होंने बड़ी ही उत्कृष्ट भावव्यंजना की है और साधारण से साधारण भावों को भी चमत्कृत कर दिया है। परन्तु ऐसे उदाहरणों की भी न्यूनता नहीं है जहाँ कि भावव्यंजना शिथिल है, भाषा विकृत है और विचार क्षेत्र संकुचित है। भावों की न्यूनता भी कदाचित उनके पास इतनी अधिक थी कि वे एक ही प्रकार के विचारों को कई छंदों में वर्णन करते थे। भावों की गंभीरता का ह्रास भी कहीं कहीं पाया जाता है तथा पूर्ववर्ती कवियों के भावों को अपनाने में भी वे सर्वत्र सफल नहीं रहे हैं। जगद्विनोद के तो अधिकांश छंद या तो संस्कृत के श्लोकों के शब्दानुवाद हैं या पूर्ववर्ती कवियों के भावों पर आधारित हैं। परन्तु इतना सब होते हुए भी मतिराम और देव जिनका कि काव्य सौंदर्य इनसे अधिक निखरा हुआ है की अपेक्षा पद्माकर को ही अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई है तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी यही लिखा है—"रीति काल के

कवियों में सहृदय समाज इन्हें बहुत श्रेष्ठ स्थान देता आया है। ऐसा सर्वप्रिय कवि इस काल के भीतर बिहारी को छोड़ दूसरा कोई नहीं हुआ। इनकी रचना की रमणीयता ही इस सर्वप्रियता का एक मात्र कारण है। रीतिकाल की कविता इनकी और प्रताप साहि की वाणी द्वारा अपने पूर्ण उत्कर्ष को पहुँचकर ह्रासोन्मुख हुई। अतः जिस प्रकार ये अपनी परम्परा के परमोत्कृष्ट कवि हैं उसी प्रकार प्रसिद्धि में अंतिम भी। देश में जैसा इनका नाम गूँजा वैसा फिर आगे चलकर किसी और कवि का नहीं।"[1]

---

१ दे० हिंदी साहित्य का इतिहास—(पृष्ठ ३६८)

११. भारतेन्दु की काव्य-साधना

सुप्रसिद्ध जर्मन् कवि रेनर रिल्के ने एक स्थल पर लिखा है—"काव्यसृजन के हेतु केवल जीवन की स्वल्प स्मृतियाँ ही पर्याप्त नहीं हैं, बल्कि सत्कवि के हेतु आवश्यक है कि जब अत्याधिक स्मृतियाँ एकत्र हो जावें तो वह उन्हें विस्मरण कर दे और उनके पुनः लौट आने तक धीरता से उनकी प्रतीक्षा करे, क्योंकि इन स्मृतियों में ही उसका सम्पूर्ण विश्व निहित है और यह तभी संभव है जब कि उसके रक्त के साथ ये स्मृतियाँ एकाकार हो जावें, उसकी दृष्टि और चेष्टा में परिणत हो जाएँ—अन्तस् में रमजाएँ, जब उनका कोई स्वतंत्र नाम और चिह्न अवशेष न रहे, वे उसमें आत्मसात् सी हो जाएँ—तभी, केवल तभी—उसके जीवन के किसी स्वर्णिम क्षण में कविता के प्रथम शब्द का उत्थान होता है, जो उससे निकलकर बहिर्जगत में विचरता पंछी बन जाता है।"

आधुनिक हिंदी साहित्य का सर्वप्रथम युग भारतेन्द्र युग (१८५० ई०—१६०० ई०) ही है क्योंकि हिंदी साहित्य की प्रारंभिक विभिन्न प्रवृत्तियों को भारतेन्द्रु हरिश्चन्द्र ने ही प्रभावित किया था और हिंदी साहित्य में नवीनता का श्रीगणेश भी उन्होंने ही किया था तथा उसे जिस प्रकार की गति दी वह उनके निधन के उपरान्त भी उन्हीं के दिखाए हुए मार्ग का अनुसरण करती

रही। अपने करीब पैंतीस वर्ष के संक्षिप्त जीवन में ही उन्होंने हिंदी साहित्य के प्रत्येक अंग को प्रभावित किया और इस प्रकार उनकी अलौकिक प्रतिभा से साहित्य में नूतन प्रवृत्तियों का विकास हो सका और हिंदी का क्षेत्र सर्वांगीण हो सका। जहाँ हिंदी जनता को नाट्य रचना की ओर अभिमुख करने का श्रेय उन्हें है वहाँ असंयत हिंदी गद्य को खड़ी बोली का नियमित रूप देकर आधुनिक गद्य की परिष्कृत शैली उत्पन्न करने का जिसकी कि परम्परा दिन प्रतिदिन आज भी विकसित हो रही है उन्हें ही श्रेय है। हिंदी में नवीन ढंग की आलोचना शैली का सूत्रपात्र करनेवाले भी वे ही थे। 'नाटक' शीर्षक ६७ पृष्ठ का आलोचनात्मक लेख हिंदी का सर्वप्रथम आलोचनात्मक निबन्ध है। अपनी अल्पायु में ही १७५ ग्रंथों का सृजन उनकी प्रखर प्रतिभा का द्योतक है। डा० जान्सन के 'लिट्रेरी सर्किल' के सदृश्य बल्कि उससे भी अधिक उनके साहित्यिक मंडल का महत्व है जिसने हिंदी में अनेक प्रतिभाशाली लेखकों और कवियों को उत्पन्न किया।

डा० श्याम सुंदर दास जी का कथन है—"भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का वास्तविक महत्व परिवर्तन उपस्थित करने में और साहित्य को शुद्ध मार्ग में ले चलने में है। शृंगारिक कविता की प्रबल वेग से बहती हुई जिस धारा का अवरोध करने में हिंदी के प्रसिद्ध वीर कवि 'भूषण' समर्थ नहीं हुए थे, भारतेन्द्र उसमें पूर्णतः सफल हुए। इससे उनके उच्च पद का पता लगता है।" चूँकि भारतेन्दु का समस्त जीवन ही कवित्व मय था तथा वे एक साधारण कवि न होकर आशुकवि थे अतः उनका काव्य बहुत अधिक विशद है और उसमें विभिन्न प्रवृत्तियाँ भी देख पड़ती हैं।

भारतेन्द्र के काव्य साहित्य का प्रथम भाग गीतिकाव्य है। यद्यपि गीतिकाव्य की परम्परा अत्याधिक प्राचीन है और हिंदी गीतिकाव्य का प्रारंभिक रूप वज्रयानी सिद्धों के पदों में दृष्टि-

गोचर होता है तथा भक्तिकाल में तो गीति काव्य प्रौढ़ता की चरम सीमा पर पहुँच चुका था परन्तु आधुनिक हिंदी गीति काव्य का प्रथम कवि भारतेन्दु को ही मानना उचित होगा। वल्लभ कुल के कृष्ण भक्त कवि होने के कारण इनके पदों में मानस की सरस अभिव्यंजना है। अष्ट छाप के कवियों के उपरान्त प्रथम बार लगभग डेढ़ सहस्त्र की संख्या में इतने सुंदर पद एक कवि ने प्रस्तुत किए। यद्यपि पदों का विषय वही प्राचीन राधाकृष्ण लीला ही है तथा अष्ट छाप के कवियों की भाँति उन्होंने भी बाललीला, भावती लोला, मान लीला, दानलीला, रूपवर्णन, मुरली-माधुरी, विरह, उद्धवगापी संवाद और नेत्रों के प्रति उपालंभ आदि विषयों का ही वर्णन किया है परन्तु स्थल स्थल पर ऐसी ऐसी नूतन मनो भावनाएँ दृष्टिगोचर होती हैं जो कि मानो किसी नूतन रूप से भावों का संगुफन कर रही हैं। रीति काल में राधाकृष्ण को शृंगार के वासनामय नायक-नायिका बनाकर जिस कलुषित शृंगार की उत्पत्ति की गई भारतेन्दु के काव्य में उसकी झलक भी नहीं मिलती। उनके पुनीत मानस में इन मनोभावनाओं के लिए स्थान कहाँ था अतः रीतिकालीन परंपरा की सर्वथा उपेक्षा कर राधा कृष्ण के परम दिव्य स्वरूप की आराधना ही उन्होंने अपने काव्य में की है। भारतेन्दु की यह एक महत्वपूर्ण काव्यगत विशेषता है कि उनके इस प्रयत्न से रीतिकालीन वासनामूलक नग्न-शृंगार का लोल पद सर्वदा के लिए बंद हो गया। यह अवश्य है कि पदों में विशेष मौलिकता नहीं है पर आत्मभिव्यंजन की सौकुमार्यता और मनोहरता पूर्णरूप से दृष्टिगोचर होती है। मीरा की कसक, सूर की वेदना, गोस्वामी जी की वर्णन शैली, हित हरिवंश जी की तल्लीनता एक साथ उनके काव्य में झलक उठती हैं। रूप-वर्णन उनका रूपको के योग से उत्कृष्ट बन पड़ा है और राधा के सौंदर्य का सरिता से तथा कृष्ण की नृत्य रूपी मनोहरता का

वारिद खंडों से साम्य आदि विभाव चित्रण के कलापूर्ण उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। निम्नलिखित पद में होली खेलते हुए श्रीकृष्ण का रूप-वर्णन किया गया है—

> श्याम सरस मुख पर अति शोभित तनिक अबीर सुहाई।
> नील कंज पर अरुन किरन की मनहुँ परी परछाई॥
>
> मनु अंकुर अनुराग सरस सिंगार माँझ छबि देई।
> किधौं नीलमनि माथे इक मानिक निरखत मन ही लेई॥
>
> चंद बदन में मंगल को मनु अंक निरखि मन मोहै।
> हरीचंद छवि बरनि सकै सो ऐसो कवि जग को है॥

भारतेन्दु सूर मे विशेष प्रभावित हुए हैं और इस प्रकार उनके वस्तु वर्णन पर सूरसागर का व्यापक प्रभाव पड़ा है। सूर के सदृश्य उपमा और रूपक की ओर भी उन्होंने रुचि प्रदर्शित की है। कृष्णकाव्य के अंतर्गत देवी छद्मलीला, रानी छद्मलीला और तन्मय लीला नामक तीन खंड काव्यों का उल्लेख करना भी आवश्यक है जिनकी कि कथावस्तु नितान्त मौलिक है। सूर ने राधा के जन्म आदि का वर्णन नहीं किया है परन्तु भारतेन्दु ने कृष्ण जन्मोत्सव के सदृश्य राधा का जन्मोत्सव भी वर्णन किया है। इसी प्रकार राधा की मनोभावनाओं की सौकुमार्यता और कृष्ण के प्रति प्रेम भाव में भी हमें मौलिकता ही देख पड़ती है जो कि अष्टछाप के कवियों की कविताओं में नहीं है।

भारतेन्दु की दृष्टि लोक साहित्य की ओर भी गई और उन्होंने ग्राम साहित्य के निर्माण की ओर भी ध्यान दिया। मई १८७६ ई० की 'कवि बचन सुधा' में उन्होंने एक विज्ञप्ति प्रकाशित कर गाँवों में ग्रामीण भाषा में लिखे गए गीतों का महत्व सिद्ध किया था। भारतेन्दु का उद्देश्य यह भी था कि हिंदी के सम्पर्क में आनेवाले सभी प्रांतों की प्रांतीय भाषाओं के लोक गीतों का भी

सृजन हो। चूँकि ये भाषाएँ हिंदी की रीढ़ हैं और उनके योग से हिंदी का अधिक विकास हो सकेगा। अतः वे चाहते थे कि इन भाषाओं का भी विकास हो। भारतेन्दु ने स्वयं भी बँगला, गुजराती, पंजाबी और राजस्थानी में कविताएँ लिखी हैं तथा उर्दू में भी उनकी कुछ सूक्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। लोक साहित्य का अधिक से अधिक निर्माण हो यही उनकी आकांक्षा थी। कजली, ठुमरी, खेमटा, कहरवा, अद्धा, चैती, होली, साँझी, लावनी, बिरहा, गजल आदि के प्रचार और प्रसार की ओर उनकी विशेष रुचि थी और स्वयं भी उन्होंने इनका सृजन किया। भारतेन्दु ने वे विषय भी प्रस्तुत किए जिन पर कि लोक गीतों का लिखा जाना आवश्यक था। वे विषय हैं बालविवाह से हानि, जन्मपत्री मिलाने की अशास्त्रता, बालकों की शिक्षा, भ्रूणहत्या, फूट और बैर, स्वदेश प्रेम, हिंदुस्तान की वस्तु हिंदुस्तानियों के व्यवहार में लाना, अँगरेजी फैशन की बुराइयाँ आदि। इस प्रकार भारतेन्दु की दृष्टि समाज सुधार से लेकर स्वदेशी आंदोलन की ओर तक थी और सर्व साधारण में एक चेतना जाग्रत करना चाहिए जो प्रत्येक प्रकार से अशिक्षितों को—ग्रामीण को—भी इन गीतों के द्वारा जाग्रत कर सकें; यही उनका उद्देश्य था।

किसी एक विद्वान का कथन है—"कवि अपने युग का प्रतिनिधित्व करता है।" साहित्य सर्वदा ही सामयिक परिस्थितियों से अनुप्राणित होता रहा है। चूँकि हिंदी साहित्य के प्राचीन कवि धर्मचेतना और निश्चित रूढ़ियों से ही प्रभावित होते रहे हैं अतः सामयिक घटनाओं और परिस्थितियों की ओर उनकी दृष्टि नहीं गई। रीति कालीन काव्य धारा तो केवल प्रशस्तियों मात्र तक ही सीमित रही है। यह तो भारतेन्दु युग की ही विशेषता है जिसमें कि सामयिक तथा राष्ट्रीय परिस्थितियों का चित्रण कवियों ने किया। भारतेन्दु ने कुछ कविताएँ ऐसी भी लिखी हैं

जो उन्हें राजभक्त के रूप में सिद्ध करती हैं जैसे विक्टोरिया के पति की मृत्यु पर स्वर्गवासी श्री अलवरत वर्णन, ड्यूक आफ एडिनबरा के १८६६ में भारतगमन के अवसर पर श्री राजकुमार सुस्वागत-पत्र एवं उनके काशी आने के अवसर पर के कवित्त, प्रिंस आफ वेल्स के भारत आगमन पर लिखी गई "राजकुमार शुभागमन वर्णन"। यही प्रवृत्ति राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' की कविताओं में भी हमें देख पड़ती है। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर भारतेन्दु के काव्य में उत्कृष्ट देश भक्ति और वास्तविक राष्ट्रीयता झलक उठती है। समीक्षक यह भूल जाते हैं कि राष्ट्रीयता के मूल प्रवर्तकों में उनका कितना महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि वे प्रथम कवि हैं जिन्होंने भारत के प्राचीन इतिहास को कवि के रूप में निहारा है। अतीत की गौरव गाथाओं को उन्होंने विस्मरण नहीं किया है और पूर्वी-पश्चिमी सभ्यता के संघर्ष से भी वे भली भाँति विज्ञ थे और 'प्रबोधिनी' में भारत की दुर्दशा का उन्होंने हृदय स्पर्शी चित्रण किया है। अंग्रेजी राज्य के प्रति उनके वास्तविक विचार इस प्रकार के थे—

अँगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी॥
ताहू पै मँहगी काल रोग विस्तारी।
दिन-दिन दूने दुख ईस देत हा! हा! री॥
सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई।
हा! हा भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

अतः हम देखते हैं कि भारतेन्दु ने ही जातीय, राष्ट्रीय तथा सामयिक कविता का बीजारोपण किया जो कि उनके उपरान्त १५ वर्ष के अन्दर अन्दर विकसित हो गया।

गीतिऔरराष्ट्रीय कविताओं के उपरान्त भारतेन्दु भारतेन्दु की

काव्य धारा में रीतिकालीन प्रवृत्तियों से प्रभावित विषय दृष्टि-गोचर होते हैं। कवित्त और सवैयों में कवि ने शृङ्गार-रस की धारा अबाध गति से प्रवाहित की है। 'अग्नि पुराण' में लिखा है कि यदि कवि शृंगारी होता है तो उसके काव्य से विश्व रसमय हो जाता है परन्तु यदि वह वीतरागी होता है तो सब ओर नीर-सता फैल जाती है। 'नाट्य शास्त्र' के आचार्य महामुनि भरत ने भी जो कुछ लोक में पवित्र, श्रेष्ठ, शुभ्र और दर्शनीय है उसे शृंगार रस माना है। रीतिकालीन प्रसिद्ध कवि देव का मत है।

भूलि कहत नवरस सुकवि सकल मूल सिंगार।
जो संपति दंपतिनु की जाको जग विस्तार॥

भारतेन्दु के कवित्त सवैयों में वासनामूलक चित्र प्रस्तुत नहीं किए गए और प्रेम का उत्कृष्ट रूप वर्णित किया गया है। विरह का स्वाभाविक चित्रण वे प्रस्तुत कर सके हैं और इस प्रकार मतिराम की सी मधुरता, देव की सी विरह व्यथा, घनानन्द की सी हृदय स्पर्शिता, रसखान की सी सरलता और पद्माकर का सा प्रवाह उनके छन्दों में दृष्टिगोचर होता है। 'पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अँखियाँ दुखियाँ नहिं मानती हैं' जैसी मर्मस्पर्शी उक्तियों की प्रधानता सी है।

भारतेन्दु के काव्य का कलापक्ष भी प्रौढ़ और परिष्कृत है। यद्यपि कवि ने खड़ी बोली में भी रचनाएँ की हैं परन्तु उनकी काव्य भाषा विशेष रूप से ब्रजभाषा ही रही है। रत्नाकर की भाँति उन्होंने ब्रजभाषा का अध्ययन नहीं किया था बल्कि अपनी प्रतिभा के बल से ही उन्होंने ब्रजभाषा का परिमार्जित और परिष्कृत रूप प्रस्तुत किया। उनकी ब्रजभाषा शुद्ध ब्रजभाषा है उसे साहित्यिक ब्रजभाषा नहीं कहा जा सकता। उत्तम भाषा के समस्त गुण उनकी भाषा में दृष्टिगोचर होते हैं। भावानुकूल

शब्द चयन उनकी भाषा की खास विशेषता है। दुरूह शब्दों का प्रयोग प्रायः नहीं किया गया और सर्वत्र ही सरल, सुमधुर शब्दावली देख पड़ती है। केशव के सदृश्य चमत्कार प्रदर्शन के हेतु संस्कृत शब्दों का उन्होंने अधिक प्रयोग नहीं किया और न सूर की तरह भाषा को साहित्यिक एकरूपता देने का ही प्रयत्न किया। घनानन्द की तरह उसे परिष्कृत करने का भी प्रयत्न नहीं किया गया बल्कि दुरूह और अप्रचलित शब्दों से रहित सुललित सरल और स्वाभाविक ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया गया है।

ब्रजभाषा के पूर्व सौंदर्य को सुरक्षित रख उसे आधुनिक जीवन का अनुगामी बनाना उनका एक महत्वपूर्ण कार्य था। उन्होंने ब्रज़भाषा की निजता को सुरक्षित रखा है। उनकी भाषा में लोकोक्तियों, मुहावरों और कहावतों का अधिकाधिक प्रयोग है। 'हाय सखी इन हाथन सों अपने पग आय कुठार में दीनो' और 'एक जो होय तो ज्ञान सिखाइये कूप ही में यहाँ भाँग परी है' के सदृश्य मुहावरों और कहावतों का उनकी भाषा में स्वाभाविक प्रयोग हुआ है। वस्तुवर्णन में अलंकारों की सुषमा देखने ही योग्य है। 'तरनि तनूजा तट-तमाल तरुवर बहु छाए' जैसी अनुप्रासयुक्त पंक्तियों की अधिकता सी है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और यमक आदि का भी प्रयोग हुआ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन और वर्तमानकाल की युग-संधि पर खड़े हुए भारतेन्दु का काव्य अपना एक विशिष्ट महत्व रखता है। युग की विभिन्न धाराओं का समावेश बहुत ही कम कवियों की कृतियों में देख पड़ता है। अनेक भाषाओं में और अनेक शैलियों में वे अपनी अलौकिक प्रतिभा का परिचय दे सके हैं। गोस्वामी तुलसीदास के उपरान्त हिंदी साहित्य में वे ही एकमात्र कवि हैं जिन्होंने कि प्रचलित समस्त शैलियों का

और विभिन्न काव्य भाषाओं का सफलतापूर्वक प्रयोग किया। खड़ी बोली की कविता के तो वे प्रवर्तक ही थे। भारतेन्दु ने हिन्दी कविता के विषयों और शैलियों में क्रांति उपस्थित की। प्राचीन कवि या तो इस भाव पुष्टि को ध्यान में रख कर कविता करते थे या फिर धर्म और शृङ्गार को। भारतेन्दु ने नवीन प्रसंगों की उद्भावना की और समाज सुधार देश प्रेम तथा तथा स्वतंत्रता की भावना आदि नए नए विषयों द्वारा कविता का नवीन रूप प्रस्तुत किया। श्री जयशंकर 'प्रसाद' भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को ही साहित्य का प्रथम यथार्थवादी कवि मानते हैं। आचार्य रामचन्द्र जी शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में उचित ही लिखा है—"अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से एक ओर तो वे पद्माकर और द्विजदेव की परम्परा में दिखाई पड़ते थे, दूसरी ओर वंगदेश के माइकेल और हेमचन्द्र की शैली में। एक ओर तो राधाकृष्ण की भक्ति में झूमते हुए नई भक्तमाल गूँथते दिखाई देते थे, दूसरी ओर मन्दिरों के अधिकारियों और टीकाधारी भक्तों के चरित्र की हँसी उड़ाते और स्त्री शिक्षा, समाज सुधार आदि पर व्याख्यान देते पाये जाते थे। प्राचीन और नवीन का यही सुन्दर सामंजस्य भारतेन्दु की कला का विशेष माधुर्य है। साहित्य के एक नवीन युग के आदि में प्रवर्तक के रूप में खड़े होकर उन्होंने यह भी प्रदर्शित किया कि नये-नये या बाहरी भावों को पचाकर इस प्रकार मिलाना चाहिए कि वे अपने ही साहित्य के विकसित अंग से लगें। प्राचीन-नवीन के इस संधिकाल में जैसी शीतल कला का संचार अपेक्षित था वैसी ही शीतल कला के साथ भारतेन्दु का उदय हुआ, इसमें सन्देह नहीं।"

---

१२. उद्धव-शतक में अलंकार-व्यंजना

किसी भी कविता का परीक्षण करते समय उसके भाव पक्ष और कलापक्ष दोनों पर विचार किया जाता है। कलापक्ष के अंतर्गत भाषा पर पूर्ण रूप से विचार करना आवश्यक माना जाता है और भाषा में चमत्कार उपस्थित करने के लिये अलंकारों का अवलम्ब लेना ही पड़ता है। अलंकारों के उपयोग से भाषा ही नहीं सम्पूर्ण काव्य तक चमत्कृत हो उठता है। 'चन्द्रालोक' नामक ग्रंथ में कविवर जयदेव ने लिखा है—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थवनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलङ्कृती॥

अर्थात् जो विद्वान अलंकार रहित शब्द और अर्थ को काव्य मानते हैं, वे अग्नि को उष्णता रहित क्यों नहीं मानते?

'अग्निपुराण' में भगवान् वेदव्यास ने भी लिखा है—

अलङ्करणमर्थानामर्थालङ्कार इष्यते।
तं बिना शब्दसौन्दर्यमपि नास्ति मनोहरम्॥
अर्थालङ्काररहिता विधवेव सरस्वती॥

इसी प्रकार महाकवि दण्डी का भी मत है—

'काव्यशोभा करान्धर्मानलङ्कारान्प्रचक्षते।

'साहित्य-दर्पण' में विश्वनाथ ने अलंकारों का लक्षण इस प्रकार दिया है—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः ।
रसादीनुप कुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेङ्ग दादिवत् ॥

प्रसिद्ध आचार्य केशवदास जी ने भी 'कविप्रिया' में अलंकारों का महत्व दिखलाते हुए कहा है—

जदपि सुजाति सुलक्षनी, सुबरन सरस सुवृत्त ।
भूषन बिनु न विराजई, कबिता बनिता मित्त ॥

इस प्रकार यही सिद्ध होता है कि वास्तव में काव्य में अलंकारों का आदरणीय स्थान है। किन्तु अलंकारों की अभिव्यक्ति भी सहज नहीं है तथा उसके लिये काव्य-कला-कुशलता विशेष रूप से अपेक्षित है। साधारण कविजन प्रायः बहुत अधिक प्रयत्न करते है कि उनकी सूक्तियों में अलंकारों का प्रादुर्भाव हो सके किन्तु वे सफल नहीं हो पाते; लेकिन ठीक उसके विपरीत एक प्रतिभाशाली कवि की कविता में अलंकारों का आविर्भाव स्वाभाविक ही हो जाता है। अलंकारों की भिक्षा के हेतु उन्हें कोष के द्वार पर हाथ पसारना नहीं पड़ता। भाषा पर उनका इतना अधिक अधिकार रहता है कि—"वाग् वश्यैवानुवर्तते"—वाणी तक उनके आधीन हो जाती है। अतएव अलंकारों की अभिव्यंजना के हेतु कवि में काव्यमर्मज्ञता, विद्वता और प्रतिभा भी अपेक्षित है।

'उद्धवशतक' रत्नाकर की उल्लेखनीय कृति है जो कि एक सौ सत्रह घनाक्षरी छंद का प्रबन्धात्मक मुक्तक काव्य है यद्यपि 'उद्धवशतक' भ्रमरगीत परम्परा का ही काव्यग्रंथ है तथा उसकी कथावस्तु भी श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध से ली गई है किन्तु उसमें कतिपय निजी विशेषताएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। 'उद्धवशतक' में विप्रलंभ शृङ्गार की प्रधानता है तथा गोपियों की

विरह व्यथा का मर्मस्पर्शी चित्रण किया गया है। रत्नाकर ने प्रेम में तुल्यानुराग को ही आदर्श माना है और कृष्ण की वियोगावस्था का भी अंकन किया है। भावपक्ष की प्रबलता के साथ-साथ 'उद्धवशतक' का कलापक्ष भी प्रौढ़ है तथा 'उद्धवशतक' में कवि का उद्देश्य चमत्कार प्रदर्शन न होकर लोकोत्तर आनन्द प्रदान करना ही है। कदाचित इसी से अलंकारों की बहुलता होते हुए भी 'उद्धवशतक' की सूक्तियों में मर्मस्पर्शिता ही विशेष रूप से है। रत्नाकर के कई छंदों में अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग ही हुआ है और भाषा को विकृत नहीं किया गया! पद्माकर में अनुप्रास-प्रियता विशेष रूप से थी किन्तु अनुप्रास की प्रवृत्ति के फलस्वरूप उन्होंने भाषा को विकृत भी कर दिया है लेकिन रत्नाकर ने इस दोष से बचनें का सर्वथा प्रयास किया है। 'उद्धवशतक' में अनुप्रासों की छबीली छटा स्वाभाविक ही लहरा रही है। देखिये—

सूखे से, स्त्रये से, सकबके से सके से थके,
भूले से भ्रमे से भभरे से भकुवाने से।
हौले से हले से हूल हूले से हियें में हाय,
हारे से हरे से रहे हेरत हिराने से॥

× × ×

जैहे बनि-बिगरि न बारिधिता बारिधि की,
बूँदता बिलैहै बूंद बिबस बिचारी की।

रत्नाकर का अलंकार व्यंजना के विषय में यह ध्यान में रखना चाहिये कि उनके किसी एक कवित्त में किसी एक विशेष अलंकार का ही प्रयोग नहीं हुआ है बल्कि प्रायः संकर और संसृष्टि के रूप में ही एक-एक छन्द में कई अलंकार दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु कई छन्द ऐसे भी हैं जो कि हमारे इस कथन के अपवाद स्वरूप हैं।

रत्नाकर को श्लेष और वीप्सा के प्रयोग में विशेष सफलता मिली है। एक स्थल पर गोपियाँ अनंग शब्द को ही श्लिष्ट रूप में लेकर उसके (१) अंग रहित अर्थात् ब्रह्म और (२) मदन नामक दो अर्थ मानकर उद्धव से परिहास करती हुई कहती हैं—

एक ही अनङ्गसाधि साध सब पूरीं अब,
और अंग रहित अराधि करिहैं कहा।

कहीं कहीं रत्नाकर ने अपने नाम को भी श्लिष्ट रूप में प्रस्तुत किया है—

तुम तौ बिबेक रतनाकर कहौ क्यौं पुनि,
भेद पंचभौतिक के रूप में रचायो है।

× × × ×

रस रतनाकर सनेह निखार्‌यौ जाहि,
ता कच कौं हाय जटाजूट बरिबौ कहौ।

× × × ×

जोग रतनाक में साँस घूंटि बूड़ै कौन,
ऊधौ हम सूधौ यह बानक बिचारि चुकीं।

श्लेषालंकार का आविर्भाव उद्धवशतक के षट्ऋतु वर्णन सम्बन्धी छन्दों में भी कुशलता के साथ हुआ है। वीप्सा माला जिसमें कि शब्द अथवा वाक्य का आवृत्ति की जाती है के कुछ उदाहरण देखिए—

भेजे मनभावन के ऊधव के आवन की,
सुधि ब्रज-गाँवनि में पावन जबै लगीं।
कहे रतनाकर गुवालिनि की झौरि-झौरि,
दौरि-दौरि नंद-पौरि आवन तबै लगीं॥

उझकि-उझकि पद कंजनि के पंजनि पै,
पेखि पेखि पाती छाती छोहनि छवै लगीं।
हमकौं लिख्यौ है कहा, हमकौं लिख्यौ है कहा,
हमकौं लिख्यौ है कहा कहन सबै लगीं॥

× × × ×

वे तो हैं **हमारे ही हमारे ही हमारे** ही औ,
हम **उनही की उनही की उनही की** हैं।

× × × ×

रंचक हमारी **सुनौ रंचक** हमारी **सुनौ,**
रंचक हमारी **सुनौ** कहि रहि जात हैं।

शब्दालंकारों के प्रयोग में तो कवि को अप्रतिम सफलता मिली ही है किन्तु अर्थालंकारों के प्रयोग में भी वह सिद्धहस्त प्रतीत होता है। अत्युक्ति का निम्नांकित उदाहरण देखिए जिसमें कि विरह जन्य-विकलता का स्वाभाविक चित्रण है।

दाबि दाबि छाती पाती लिखन लगायौ सबै,
ब्यौंत लिखिबै कौ पै न कोऊ करि जात है।
कहै रतनाकर फुरति नाहिं बात कछू,
हाथ धरयौ हीतल थहरि थरि जात है॥
ऊधौ के निहोरैं फेरि नैंकु धीर जोरैं पर,
ऐसो अंग-ताप कौ प्रताप भरि जात है।
सूखि जात स्याही लेखिनी कें नैंकू डंक लागैं,
अंक लागैं कागद बररि बरि जात है॥

रूपक और उपमा का प्रयोग भी 'उद्धवशतक' में विशेष रूप से किया गया है। रूपक अलंकार द्वारा काव्य में सादृश्यता दृष्टि-गोचर होती है जिससे कि सूक्तियों में रमणीयता आ जाती है।

रत्नाकर ने परंपरित रूपक और साँग रूपक का ही प्रयोग विशेष रूप से किया है। परंपरित रूपक का एक उदाहरण देखिए—

आए हौ सिखावन कौं जोग मथुरा तैं तौ पै,
ऊधौ ये बियोग के बचन बतरावौ ना।
कहै रतनाकर दया करि दरस दीन्यौ,
दुख दरिबै कौं, तौ पै अधिक बढ़ावौं ना॥
टूक टूक ह्वै है मन-मुकुर हमारौ हाय,
चूकि हूँ कठोर-बैन-पाहन चलावौ ना।
एक मनमोहन तौ बसिकै उजार्‌यौ मोयिं,
हिय मैं अनेक मनमोहन बसावौ ना॥

'उद्धवशतक' में कहीं कहीं उपमा और रूपक का अनूठा सामंजस्य भी दृष्टिगोचर होता है। अर्थात् कहीं कहीं तो रूपक का पर्यवसान उपमा में हो गया है और उपमा का पर्यवसान कहीं-कहीं रूपक में हुआ है। देखिए—

चलत न चार्‌यौ भाँति कोटिन बिचार्‌यौ तऊ,
दाबि दाबि हार्‌यौ पै न टार्‌यो टसकत है।
परम गहीली बसुदेव-देवकी की मिली,
चाह चिमटी हूँ सौं न खैंचौ खसकत है॥
कढ़त न क्यौं हूँ हाय बिथकै उपाय सबै,
धीर-आक-छीर हूँ न धारैं धसकत हैं।
ऊधौ ब्रज-बास के विलासनि कौ ध्यान धर्‌यौ,
निस दिन काँटे लौं करेजैं कसकत है॥

रत्नाकर को प्रधान प्रधान अर्थालंकारों का प्रयोग करने में तो सफलता मिली ही है लेकिन साधारण से साधारण अलंकारों की अभिव्यक्ति भी उन्होंने इतनी कुशलता से की है कि उनकी अलंकार व्यंजना की सराहना मुक्तकंठ से करनी पड़ती है।

लोकोक्ति का इतना सुन्दर उदाहरण कदाचित ही अन्य किसी कवि की कविता में दृष्टिगोचर हो—

> दिपत दिवाकर कौं दीपक दिखावै कहा,
> तुमसन ज्ञान कहा जानि कहिबौ करैं।

स्मृतियों के चित्र तो कई कवियों ने अपनी कविताओं में प्रस्तुत किए हैं किन्तु इस प्रकार की स्मृतियाँ भाव या मनोविकार ही कहला सकती हैं। लेकिन जब स्मरण करानेवाली वस्तु और स्मरण की हुई वस्तु में उपमेय-उपमान भी हों तो स्मरणालंकार का आविर्भाव होता है। विश्वनाथ ने स्मरणालंकार का उदाहरण इस प्रकार दिया है—

> अरविंदमिदं वीक्ष्य खेलत्खंजनमंजुलम्।
> स्मरामि वदनं तस्याश्चारू चंचललोचनम्॥

किन्तु प्रायः स्मरणालंकारों के उदाहरण में स्मृतिभाव और अलंकार दोनों का परस्पर सामंजस्य ही देख पड़ता है। 'उद्धवशतक' का निम्नांकित उदाहरण देखिए—

> न्हात जमुना में जलजात, एक देख्यौ जात,
> जाकौ अध-ऊरध अधिक मुरझायौ है।
> कहै रतनाकर उमहि गहि स्याम ताहि,
> दास-वासना सौं नैंकु बासिका लगायौ है॥
>
> त्यौंही कछु घूमि झूमि बेसुध भए कै हाय,
> पाय परे उखरि अभाय मुख छायौ है।
> पाए घरी द्वैक में जगाइ ल्याइ ऊधौ तीर,
> राधा-नाम कीर जब औचक सुनायौ है॥

जलजात अर्थात् कमल को देकखर कमलबदनी राधा का स्मरण हुआ और कमल को मुरझाई हुई दशा में देखने पर यह

स्मृति हुई कि विरहवेदना से बृषभानुजा भी इसी प्रकार की दशा को प्राप्त हुई होंगी। साथ ही कृष्ण की दशा को देखकर इसमें स्मृति भाव की प्रधानता भी स्वीकार करनी होगी। जब कि यहाँ पर उपमेयोपमान भाव से स्मरणालंकार का प्रादुर्भाव हुआ है वहीं साथ ही साथ स्मृति भाव भी प्रधान रूप से है। इस प्रकार इसमें दोनों का नीर-क्षीर के समान बड़ा ही सुंदर सम्मिश्रण है। इसी प्रकार असंगति का एक अनूठा उदाहरण देखिए—

सील सनी सुरुचि सु-बात चलैं पूरब की,
औरे ओप उमगी दृगनि मिदुराने तैं।

कहै रतनाकर अचानक चमक उठी,
उर घनस्याम कैं अधीर अकुलाने तैं॥

आसाछिन्न दुरदिन दीस्यौ सुरपुर माँहि,
ब्रज में सुदिन बारि-बुँद हरियाने तैं।

नीर को प्रवाह कान्ह नैननि कैं तीर बह्यो,
धीर बह्यौ ऊधौ-उर-अचल रसाने तैं॥

यह स्वाभाविक ही है कि जहाँ जल का प्रवाह होगा वहीं उसमें वस्तु भी प्रवाहित हो सकेगी किन्तु प्रस्तुत छंद में तो ठीक इसके विपरीत भगवान श्रीकृष्ण के नेत्रों रूपी तट पर नीर प्रवाहित हो रहा है और उद्धव के मानस से धैर्य बहा जा रहा है। यहाँ 'बह्यो' शब्द विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। 'बह्यो' का अर्थ वस्तुतः यहाँ नष्ट होना मानना चाहिए और इस प्रकार से असंगति का संगति में रूपान्तर होगा; जो कि स्वाभाविक ही है। किसी मनुष्य के रुदन से उसके समीप बैठनेवाला भी द्रवित होकर अपना धैर्य स्वाभाविक ही खो देगा। यहाँ 'बहना' शब्द का प्रयोग अतिशयोक्ति पर आश्रित है और इसी से यहाँ असंगति की सृष्टि भी हुई है। इस छंद में अलंकार-व्यंजना की उत्कृष्टता के साथ साथ

पावस वर्णन की रम्यता भी प्रशंसनीय है । निम्नांकित दो पंक्तियों में 'अधिक' नामक अलंकर की भी कितनी सुंदर अभिव्यंजना की गई है—

फिरत हुते जू जिन कुंजनि में आठौं जाम,
नैननि में अब सोई कुंज फिरबौ करैं ।

'उद्धवशतक' रीतिग्रंथ नहीं है जिसमें कि अलंकारों के लक्षणामूलक उदाहरण दिए गए हों । भावव्यंजना में जो भी अलंकार सहायक हुए हैं उन्हीं का प्रयोग उद्धवशतक में दृष्टिगोचर होता है । रत्नाकर की अलंकार व्यंजना में यह विशिष्टता विशेष रूप से पाई जाती है कि उन्होंने कहीं भी अलंकारों के प्रयोग के हेतु भावों की स्वाभाविकता, सरसता और सुमधुरता को आघात नहीं पहुँचाया । इस प्रकार से उद्धवशतक को अलंकार व्यंजना पर संक्षेप में प्रकाश डालने के उपरान्त यही प्रतीत होता है कि कविवर रत्नाकर को अलंकार-व्यंजना में अद्वितीय सफलता प्राप्त हुई है ।

———

१३. ध्रुव स्वामिनी

"नया युग 'प्रसाद' के पास आया, बढ़ा, अमर भी हुआ और एक ज्योति से सुलगने वाली दूसरी ज्योति की तरह प्रतिभा के खेत्र की विविधता में युग के आवेगों और प्रयोगों की दीपावली का त्योहार मनाया, किन्तु यह सब कुछ संस्कृति की भाषा में, उपनिषद् की वाणी में। × × × कहते हैं, कबीर हिंदी के सत्य थे, तुलसी शिव थे, किन्तु प्रसाद सत्य और सुन्दर की आँखमिचौनी थे।"

—श्री माखनलाल चतुर्वेदी

प्रसाद जी इस युग के हिंदी के महान् कलाकार थे और उनकी मौलिक प्रतिभा से हिन्दी साहित्य का अंग अंग पुष्ट हुआ है। तुलसी यदि मानव जीवन के महान् कवि माने जाते हैं तो प्रसाद जी को आधुनिक हिन्दी काव्य में मानव-हृदय का कुशल चित्रकार समझना चाहिए। यद्यपि प्रसाद जी प्रधानतः कवि ही थे परन्तु साहित्य के अन्य अंग-उपांगों की श्रीवृद्धि भी उन्होंने की है। वे महाकवि और भावुक तथा संवेदनशील गायक के अतिरिक्त कुशल उपन्यासकार और कहानी लेखक तथा सफल नाटककार भी थे। हिन्दी नाट्य-साहित्य को उन्होंने ही प्रथमबार पूर्णतः साहित्यिक रूप देने की चेष्टा की और बौद्ध एवं मध्यकालीन हिन्दू-संस्कृति तथा समाज का कुशल चित्रण अपने नाटकों में

किया है। इस प्रकार हिन्दी नाट्यकला का चरम विकास उनकी नाट्य कृतियों में दृष्टिगोचर होता है। 'ध्रुवस्वामिनी' भी प्रसाद जी की प्रसिद्ध नाट्य-कृति है।

डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा का कथन है—"प्रसाद के नाटक भारतीय इतिहास के उस अध्याय को लेकर चले हैं जो अपनी सर्वतोमुखी सम्पन्नता के कारण स्वर्णयुग कहलाता है जनमेजय परीक्षित से लेकर सम्राट हर्षवर्द्धन तक का काल भारतीयों के राजनैतिक, आध्यात्मिक, साहित्यिक और धार्मिक उत्कर्ष की परम सीमा का है।"[1] हम देखते हैं कि प्रसाद जी के नाटकों में इसी काल का चित्रण पर्याप्त मात्रा में किया गया है। 'ध्रुवस्वामिनी' का भी इस प्रकार ऐतिहासिक महत्व भी है; क्योंकि उसमें गुप्तकालीन संस्कृति और समाज का चित्रण प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि गुप्तकालीन इतिहास में समुद्रगुप्त की मृत्यु के उपरान्त चन्द्रगुप्त का ही वर्णन किया जाता है परन्तु इतिहासकारों ने अपने अन्वेषणों द्वारा सिद्ध कर दिया है कि समुद्रगुप्त के पश्चात् रामगुप्त गद्दी पर बैठा तथा उसकी मृत्यु के उपरान्त चन्द्रगुप्त सम्राट हुआ। श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, डा० सिलवाँलेवी, श्री राखालदास बैनर्जी तथा डा० अल्तेकर आदि ने इस दिशा में विशेष परिश्रम किया है।[2]

---

१. देखिए—प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन (पृष्ठ २८४)

२. विशेष अध्ययन के लिए देखिए—

(क) खसों के हाथ ध्रुवस्वामिनी—श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, नवीन संस्करण,भाग १, पृष्ठ२३४-२३५।

(ख) गुप्त साम्राज्य का इतिहास—श्री वासुदेव उपाध्याय, प्रथम खण्ड पृष्ठ ७६-७७

'ध्रुवस्वामिनी' की कथावस्तु संक्षिप्त ही है। समुद्रगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त था, परन्तु उसकी इच्छा यह थी कि उसके देहान्त के पश्चात् चन्द्रगुप्त गद्दी पर बैठे, क्योंकि रामगुप्त अयोग्य अशक्त, कामुक और कर्तव्यच्युत था। परन्तु चन्द्रगुप्त ने मर्यादा की रक्षा करने के हेतु रामगुप्त को ही गद्दी पर बैठने का अधिकार सौंप दिया। प्रजा तथा सामन्तगण प्रचलित परिपाटी और धर्म के कारण यह सोचकर चुप रहे कि ज्येष्ठ पुत्र ही राज्याधिकारी होता है। परन्तु रामगुप्त में सम्राट के गुणों का सर्वथा अभाव होने से तथा उसकी व्यवहार शून्यता, विलासिता, दुर्बलता के फलस्वरूप, साम्राज्य की स्थिति बिगड़ने लगी और चारों ओर असन्तोष फैल गया। शकों ने भी इस अवसर का लाभ उठाना चाहा और युद्ध की घोषणा कर दी। शकनरेश ने रामगुप्त को सन्धि की शर्तें स्वीकार करने के लिए लिखा, जिसके अनुसार उसे अपनी पत्नी ध्रुवस्वामिनी को शकनरेश को सौंप देने के लिए कहा गया तथा अन्य सामन्तों के लिए भी स्त्रियों की माँग की गयी। कापुरुष रामगुप्त ने इन शर्तों को स्वीकार कर लिया और ध्रुवस्वामिनी को समर्पित कर देने का निश्चय किया परन्तु चन्द्रगुप्त ने इसका विरोध किया और वह स्वयं स्त्री का वेश धारण कर शकराज के शिविर में गया तथा वहाँ उसने उसका वध कर दिया और दुर्ग पर अधिकार कर लिया। ध्रुवस्वामिनी भी उसके साथ गयी थी। वह

(ग) The Age of the Imperial Guptas—By R. D. Banerji, p. 26-28.

(घ) A New Gupta King by A. S Aitekar, Journal of the Bihara and Orissa Reserch Society Vol. XIV (1928) p. 223-253

(ङ) समीक्षायण—श्री कन्हैयालाल सहल पृष्ठ १२-३३

चन्द्रगुप्त से पहले से ही प्रेम करती थी और अब उसने चन्द्रगुप्त से विवाह करने का निश्चय किया। प्रजा तथा सामन्तगण भी रामगुप्त के विरोध में हो गये और उन्होंने चन्द्रगुप्त को सम्राट स्वीकार कर लिया। रामगुप्त ने चन्द्रगुप्त पर पीछे से आक्रमण किया, परन्तु एक सामन्त ने उसका काम तमाम कर दिया। चन्द्रगुप्त सिंहासन पर बैठा तथा ध्रुवस्वामिनी से उसका विवाह भी हो गया।

इस संक्षिप्त कथावस्तु को लेखक ने बहुत ही सुन्दर कलात्मक ढंग से वर्णन किया है और उसकी शैली की प्रशंसा मुक्तकण्ठ से करनी ही पड़ती है। पूरा नाटक तीन भागों में विभाजित है और प्रत्येक अंक में केवल एक ही दृश्य है। इस प्रकार इन दृश्यों में पूर्णता और धारावाहिकता है। विरह से पूर्ण होने के अतिरिक्त उसमें क्रमानुसार उतार चढ़ाव भी है और इस प्रकार नाटक में मर्मस्पर्शी स्थलों की बहुलता सी है। प्रथम अंक में नाटककार ने ध्रुवस्वामिनी के अंतर्जगत की विभिन्न मनोदशाओं का मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। विवाह के नाम पर उसका जो बलिदान किया गया है, उससे वह असन्तुष्ट है, क्योंकि उसे अपमान और वेदना को ही अभी तक सहना पड़ा है। उधर रामगुप्त के हृदय में भी द्वंद चल रहा है और वह विचार कर रहा है—"जगत् की अनुपम सुन्दरी मुझसे प्रेम नहीं करती और मैं हूँ इस देश का राजाधिराज।" इस समय उसे शकों का सन्धि प्रस्ताव प्राप्त होता है। इस प्रकार इस प्रथम अंक में ध्रुवदेवी की वेदनापूर्ण असहाय अवस्था, रामगुप्त की सन्देहपूर्ण विचारधारा, शकों के सन्धि प्रस्ताव तथा चन्द्रगुप्त के उत्साह का तर्कसंगत चित्रण किया गया है।

द्वितीय अंक में शकदुर्ग की विलासिता का चित्रण किया गया है तथा शकनरेश की उन्मत्तता के साथ साथ कोमा की कोमल भावनाओं का भी चित्रण किया गया है। शकराज ध्रुवस्वामिनी

की प्राप्ति की सम्भावना में उन्मत्त होकर प्रेमिका कोमा और गुरु मिहिरदेव का निरादर कर बैठता है। किन्तु उसी समय मिहिरदेव की—"वह देख, नील लोहित रंग का धूमकेतू अविचल भाव से इस दुर्गकी ओर कैसा भयानक संकेत कर रहा है" नामक भविष्य वाणी को सुनकर और धूमकेतू को देखकर शकराज भयातुर हो उठता है। उसी बीच चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी वहाँ प्रवेश करते हैं तथा शकराज और चन्द्रगुप्त का द्वंदयुद्ध होता है और शकराज की मृत्यु हो जाती है। इन दोनों अंकों में जिन राजनैतिक और धार्मिक प्रश्नों का उल्लेख किया गया है उनका समाधान तृतीय अंक में ही होता है। अयोग्य नृप को पदच्युत करने का प्रजा को पूर्ण अधिकार है तथा धर्म के क्षेत्र में भी पर्याप्त सुधार की व्यवस्था आवश्यक है; यही तृतीय अंक में सिद्ध किया गया है।

इस नाटक की सर्वप्रधान विशेषता यह है कि रंगमंच की सुविधा और अनुकूलता का जितना अधिक ध्यान प्रसाद जी ने इस नाटक में रखा है, उतना अन्य किसी नाटक में नहीं। काल, स्थान और कार्य की दृष्टि से अल्पकाल में ही सारी घटनाएँ समाप्त हो जाती हैं। अर्थात् प्रत्येक अंक की घटनायें और व्यापार एक स्थानीय ही हैं। कार्य व्यापार की शृङ्खला अटूट है और साथ ही उनमें सक्रियता तथा सजीवता भी है। नाटकों के आरम्भिक और अन्तिम दृश्यों का आकर्षक और प्रभावोत्पादन होना परमावश्यक है। लेखक ने इस दिशा में भी अपनी चतुराई प्रदर्शित की है। नाटक का नामकरण 'ध्रुवस्वामिनी' उपयुक्त ही है, क्योंकि ध्रुवस्वामिनी इतिहास प्रसिद्ध महिला तो है ही, साथ ही फल की प्राप्ति भी प्रधानतः उसे ही हुई।

कथावस्तु की भाँति नाटकों में चरित्र चित्रण का विशेष महत्व है। कुछ समालोचकों का मत है कि चूंकि नाटकों में नाट्य की ही प्रमुखता रहती है अतः चरित्र चित्रण की उसमें

कोई विशेष आवश्यकता नहीं है, परन्तु ऐसा समझना भारी भूल है क्योंकि उपन्यासों की भाँति नाटकों में भी चरित्र चित्रण का विशेष महत्व है। यदि किसी नाटक में कथानक या घटनाएँ ही हों और चरित्र चित्रण का अभाव हो तो नाट्यकला की दृष्टि से उस कृति का कोई विशेष महत्व नहीं रह जाता। डा० श्याम-सुन्दरदास जी ने एक स्थल पर उचित ही लिखा है—"वास्तव में चरित्र चित्रण ही नाटक का सर्वप्रधान और स्थायी तत्व है।"[1]

चन्द्रगुप्त; अजातशत्रु और स्कंद गुप्तकी भाँति 'ध्रुवस्वामिनी' में पात्रों की अधिकता नहीं है। ध्रुवस्वामिनी नाटक की प्रमुख पात्री है और नाटक के समस्त कार्य-व्यापारों का सम्बन्ध उसी से है तथा प्रधान फल की अधिकारिणी भी वही है। नाटक के अन्य चरित्र उसके व्यक्तित्व का विकास करने में सहायता देते हैं। यद्यपि उसमें बुद्धितत्व की प्रधानता है पर हृदयपक्ष की भी अधिकता उसमें विद्यमान है। नारीत्व के आत्मसम्मान की भावना की प्रबलता भी उसमें है। विवाह के नाम पर उसका बलिदान कर दिया गया और उसकी दशा एक बंदिनी की सी कर दी गयी; जिसने अपने पति से प्रेम का एक शब्द भी नहीं सुना और जो कि महादेवी की पदवी से विभूषित होते हुए भी अपने अधिकारों से हीन एक खिन्ना और कातर अबला है। वह कहती है—"मैंने कभी उनका मधुर संभाषण भी नहीं सुना। विलासिनियों के बीच मदिरा से उन्मत्त उन्हें अपने आनन्द से अवकाश कहाँ?"

जब उसका अकर्मण्य पति उसे उपहार स्वरूप शकराज के पास भेजना चाहता है तब वह गुप्तकुल के गौरव और अपने नारीत्व की रक्षा के हेतु पति से गिड़गिड़ाती हुई प्रार्थना करती

---

१. देखिए—साहित्यालोचन (पृष्ठ १४१)

है—"आज मैं शरण की प्रार्थिनी हूँ। मैं स्वीकार करती हूँ कि आज तक मैं तुम्हारे विलास की सहचरी नहीं हुई, किन्तु वह मेरा अहंकार चूर्ण हो गया है। मैं तुम्हारी होकर रहूँगी।" इतने पर भी रामगुप्त की निरन्तर उपेक्षा और हृदयहीनता से उसका शाश्वत नारीत्व जाग्रत हो उठता है तथा अपने को अरक्षित पाकर वह आत्महत्या को प्रस्तुत हो उठती है। परन्तु इसी बीच चन्द्रगुप्त के सहसा आगमन से और उसके कथन से—"देवि! जीवन विश्व की सम्पत्ति है, प्रमाद से, क्षणिक आवेश से या दुख की कठिनाइयों से उसे नष्ट करना ठीक नहीं;" वह अपना विचार स्थगित कर देती है। निर्भीकता, अदम्य साहस, दूर-दर्शिता; व्यवहार कुशलता तथा दृढ़संकल्प उसके चरित्र के प्रधान गुण हैं। नाटक के प्रारंभिक दृश्यों की उसकी असहाय अवस्था क्षणिक ही थी। वह चन्द्रगुप्त के साथ शकराज के दुर्ग में जाती है और वहाँ शकराज का वध होता है। अब अपने भविष्य और भाग्य का निर्माण वह बड़ी बुद्धिमत्ता से करती है और उस राक्षस विवाह का विरोध करती है, जिसके फलस्वरूप गुप्तकुल के गौरव को आघात पहुँचा। सामन्त तथा प्रजा उसी का समर्थन करते हैं और इस प्रकार रामगुप्त से छुटकारा पाकर अब वह चन्द्रगुप्त से विवाह कर लेती है। वस्तुतः ध्रुव-स्वामिनी के चरित्र का विकास परिस्थितियों के अनुरूप कुशलता से हुआ है।

चन्द्रगुप्त के चरित्र में आत्म सम्मान, वंशमर्यादा का ध्यान, अदम्यसाहस, शूरवीरता, निर्भीकता, उदारता तथा कर्तव्य परा-यणता आदि गुण दृष्टिगोचर होते हैं। यद्यपि सम्राट समुद्रगुप्त ने उसे ही उत्तराधिकारी निर्वाचित किया था, परन्तु वह निर्लोभी युवक प्राचीन परम्परा के कारण अपने अग्रज रामगुप्त को ही सम्राट बन जाने देता है यद्यपि वह ध्रुवस्वामिनी से प्रेम करता

था, परन्तु आत्मनिग्रह, आत्म नियंत्रण, विवेक तथा धर्मज्ञान आदि की भी उसमें विशेषताएँ विद्यमान थीं। जब वह ध्रुव-स्वामिनी को आत्महत्या के लिए उद्यत देखता है तथा उसकी इस अवस्था के कारणों से अवगत होता है तो उसका पौरुष जाग्रत हो उठता है और वह कहता है—"यह नहीं हो सकता। महादेवि ! जिस मर्यादा के लिए—जिस महत्व को स्थिर रखने के लिए, मैंने राजदंड ग्रहण न करके अपना मिला हुआ अधिकार छोड़ दिया, उसका यह अपमान ! मेरे जीवित रहते आर्य समुद्र-गुप्त के स्वर्गीय गर्व को इस तरह पददलित न होना पड़ेगा।" वह बलिष्ट और सुन्दर युवक था तथा उसने अपनी वीरता से शकराज का भी अन्त कर दिया। अन्त में विजय श्री उसी को प्राप्त होती है और वही सिंहासन पर भी बैठता है।

रामगुप्त दुर्बल हृदय का व्यक्ति था और था उसमें योग्य शासक के गुणों का सर्वथा अभाव। उसमें मनुष्योचित गुण तनिक भी न थे और अपने उत्तरदायित्व का पालन करने में भी वह असमर्थ था। वह मद्यपी, विलासी तथा दुश्चरित्र था। ध्रुवस्वामिनी के लिए उसके हृदय में अनुराग न था और वह उसका ही नहीं; बल्कि किसी का भी विश्वास न करता था। वह कहता है—"जो स्त्री दूसरे के शासन में रहकर प्रेम किसी अन्य दूसरे से करती है, उसमें एक व्यापक और गंभीर रस उद्वे-लित रहता होगा। जो चन्द्रगुप्त से प्रेम करेगी वह स्त्री न जाने कब चोट कर बैठे ? भीतर भीतर न जाने कितने कुचक्र घूमने लगेंगे ?" वह हृदयहीन था और अपने स्वार्थ के सम्मुख सब कुछ बलिदान करने को तत्पर हो उठता था। अपनी स्वार्थसिद्धि और उद्देश्य साधन के हेतु वह ध्रुवस्वामिनी को—अपनी धर्म-पत्नी को—भी परपुरुष के पास निःसंकोच भेज देना चाहता है। जब वह अपने राज्याधिकार पर ही संकट देखता है तब हतबुद्धि

सा हो जाता है और चन्द्रगुप्त का बध करना चाहता है, परन्तु स्वयं मारा जाता है।

कोमा शकराज के गुरु मिहिरदेव की प्रतिपालित सुता थी। सौंदर्य और भावुकता की उसमें अधिकता थी। यथार्थवादिता और दार्शनिकता भी उसमें निहित थीं; इसीलिये वह शकराज से कहती है—प्रश्न स्वयं किसी के सामने नहीं आते। मैं तो समझती हूँ कि मनुष्य इन्हें जीवन के लिए उपयोगी समझता है। मकड़ी की तरह लटकने के लिये अपने आप जाल बुनता है। जीवन के प्राथमिक प्रसन्न उल्लास में मनुष्य भविष्य में मंगल और सौभाग्य को आमंत्रित करता है।" प्रेम के साथ साथ उसमें विवेक भी था। उसमें नारीत्व भी था और नारी जाति का अपमान उसे सह्य नहीं था। वह कहती है—"राजनीति का प्रतिशोध क्या एक नारी को बिना कुचले हुए पूरा नहीं हो सकता ?" नारीत्व के प्रति अनुचित कार्य का विरोध करने पर भी जब वह शकराज को नहीं रोक पाती तब अपने पिता के साथ चली जाती है; परन्तु शकराज की मृत्यु हो जाने पर वह ध्रुवस्वामिनी के पास जाकर शव की याचना करती है, जो कि उसके चरित्र की पराकाष्ठा है। इन पात्रों के अतिरिक्त लेखक ने शकराज, शिखरस्वामी और मिहिरदेव का चरित्र भी कुशलता के साथ अंकित किया है और उनकी विभिन्न मनोदशाओं को मूर्तिमान रूप देने का प्रयास किया है।

'ध्रुवस्वामिनी' के कथोपकथनों में स्कन्दगुप्त और अजातशत्रु की अपेक्षा औचित्य और सौन्दर्य की अधिकता है। इसमें कहीं भी निरर्थक विस्तार नहीं देख पड़ता तथा व्यावहारिकता पर भी विशेष ध्यान दिया गया है। सर्वत्र ही सरल और अविस्तृत संवादों की अधिकता है। खंग धारिणी— ध्रुवदेवी, रामगुप्त शिखर

स्वामी, शकराज-कोमा तथा ध्रुवदेवी—पुरोहित के कथोपकथन में तर्क-वितर्क के साथ साथ उद्वेग और सरलता भी है। ध्रुव-स्वामिनी के संवादों में अनुपम प्रवाह है तथा कहीं कहीं वचन-वक्रता और विदग्धता के मनोरम उदाहरण देख पड़ते हैं।

नाटकों में अभिनय और संगीत का सहज सामंजस्य रहा करता है अतः गीतों का समुचित प्रयोग भी उनमें होना चाहिए। प्रसाद जी के नाटकों में उनके गीतों की साहित्यिक प्रतिभा का मौलिक प्रकाश दृष्टिगोचर होता है। प्रसाद जी के पूर्व नाटकों में केवल तड़क भड़क के ही गीत रहते थे जिनमें न तो भाषा की सुघरता ही रहती और न अनुपम भावव्यंजना ही। किन्तु प्रसाद जी के नाटकीय गीतों में संगीतात्मकता के साथ साथ साहित्यिकता भी है। परन्तु भावपूर्ण एवं काव्यात्मक होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टिगोचर से कहीं कहीं ये गीत रंग मंच के हेतु उपयुक्त नहीं माने जा सकते; क्योंकि इनकी दीर्घाकृति से सरसता में न्यूनता आ जाती है तथा कभी-कभी तो कथावस्तु से उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं जान पड़ता। हर्ष की बात है कि 'ध्रुवस्वामिनी के गीतों के विषय में यह उक्ति सार्थक नहीं होती। ध्रुवस्वामिनी के गीतों की संख्या न्यून है तथा उनमें दार्शनिकता और दुरूहता के स्थान पर सरलता है, तथा प्रेम, वेदना, सौंदर्य, साहस, ओज तथा उत्साह का आवश्यकतानुसार समावेश प्रत्येक गीत में किया गया है। साथ ही इन गीतों का आकार-प्रकार भी लघु ही है।

इस नाटक में वीर-रस की प्रधानता है तथा सहायक रूप में कहीं-कहीं शृंगार का भी समावेश हुआ है। स्थायीभाव के रूप में उत्साह ही तीनों अंकों में आया है। शकराज की शर्तों से ध्रुवस्वामिनी के मानस में उत्साह की भावना जाग्रत हो उठती है। रामगुप्त की कापुरुषता और उपेक्षा से उसमें उत्साह का आविर्भाव हुआ अतः रामगुप्त आलम्बन हुआ, शकराज का प्रसंग

उद्दीपन हुआ और उसकी आत्मरक्षा, आत्मविश्वास, दृढ़ता और साहस पूर्ण बातें आदि अनुभाव के अन्तर्गत ली जा सकती हैं। गर्व, हर्ष, उग्रता और साहस आदि संचारी भाव हैं।

अँग्रेजी के प्रसिद्ध कवि शेली का कथन है—"काव्य का समाज के कल्याण के साथ जो सम्बन्ध है वह नाटक में सबसे अधिक स्पष्ट रूप में दिखाई देता है। इस बात में तो किसी को आपत्ति नहीं हो सकती कि जो समाज जितनी उन्नति दशा का होता है उसकी रंगशाला भी उतनी ही उन्नत होती है! यदि किसी देश में किसी समय बहुत ही उच्च कोटि के नाटक रहे हों और बाद में उन नाटकों का अंत हो गया हो अथवा उनमें कुछ दोषों का प्रादुर्भाव हो गया हो तो समझना चाहिए कि इसका कारण उस समय का नैतिक पतन है।" इसका अभिप्रायः यह है कि नाटकों में किसी समस्या का समावेश भी होना चाहिए। 'ध्रुवस्वामिनी' की प्रधान समस्या नारी समस्या है और उसमें विवाह-पद्धति, पति-पत्नी का सम्बन्ध तथा दोनों के व्यक्तिगत अधिकार एवं पारम्परिक धर्म आदि प्रश्नों को सुलझाया गया है। धर्म तथा व्यवहार की दृष्टि से अनुचित विवाह सम्बंध को भी भंग कर देना चाहिए, इस नाटक में इस पर भी विचार किया गया है। 'ध्रुवस्वामिनी' में इस समस्या पर भी प्रकाश डाला गया है कि यदि शासक का पुरुष, अयोग्य और अत्याचारी हो तो उसके स्थान पर योग्य व्यक्ति के निर्वाचन का भार सर्वदा प्रजा पर या प्रजा के प्रतिनिधियों पर ही रहना चाहिये। प्रसाद जी ने अन्य समस्या नाटकों के सदृश्य केवल समस्या ही खड़ी नहीं की बल्कि उसके समाधान की भी व्यवस्था की है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'ध्रुवस्वामिनी' एक सफल नाटक है। इसमें शैली की भी नवीनता है तथा कथा भी सीधी और सरल है; चरित्र-चित्रण में सम्पूर्णता और संवादों में सरसता तथा

सरलता है। इसमें दार्शनिकता और काव्यात्मकता तथा क्लिष्ट पूर्ण शब्दावली का सर्वथा अभाव है। यह 'रंगमंच' पर भी अभिनय के सर्वथा योग्य है और इसमें कार्य के धाराप्रवाह में स्वाभाविक रूप से पात्रों की हृद्गत् भावनाओं को सफलता के साथ व्यक्त किया गया है। वास्तव में 'ध्रुवस्वामिनी' प्रसाद जी की श्रेष्ठतम नाट्यकृतियों में गिनी जा सकती है।

---

१४. आचार्य विनयमोहन शर्मा के निबन्ध

भारतीय साहित्य में प्राचीनकाल से ही गद्य की महत्ता मानी जाती रही है तथा संस्कृत की 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति'—गद्य कवियों की कसौटी है—नामक युक्ति तो बहुत पूर्व से प्रचलित है। यद्यपि गद्य के कहानी, नाटक, उपन्यास और निबंध नामक कई विविध रूप हैं, किन्तु इन सबमें निबंध को ही विशेष महत्व दिया जाता है। स्वः आचार्य रामचंद्र शुक्लजी का तो विचार है कि—"यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबंधों में ही सबसे अधिक संभव होता है।[1] वस्तुतः अन्य विविध साहित्यांगों में तो गद्यकी भाषा केवल एक माध्यम मात्र होती है, लेकिन निबंधों में तो उसकी अभिव्यक्ति पूर्णशक्ति और समृद्धि के साथ होती है। तथा उनमें ही गद्य लेखक की शैलीका पूर्ण विकास भी दृष्टिगोचर होता है। श्री गुलाबराय ने निबंध की परिभाषा इस प्रकार दी है—

---

१. आंगल-आलोचकों ने इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं—"The essay is a sever test of a writter and has been described as the Ulysse's bow of literature—J. W. Marriatt's Modern Essay and Sketches ; Introductien.

"निबंध उस गद्यरचना को कहते हैं जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धताके साथ किया गया हो।" यद्यपि निबंधका क्षेत्र व्यापक माना जाता है तथा इतिहास, पुरातत्व, दर्शन, विज्ञान, आलोचना, यात्रा आदि सभी विषय इसके व्यापक क्षेत्र के अन्तर्गत मान लिये गये हैं, किन्तु यह उचित नहीं है। जीवन या समाजके समस्त क्षेत्रोंमें लिखित रूप में विचारों का प्रकाशन करनेवाली शैलियोंको निबंध न कहकर लेख कहना ही उपयुक्त होगा क्योंकि इनका लक्ष्य येनकेन-प्रकारेण अपने विषयका प्रतिपादन और उसकी स्पष्टता मात्र रहता है; साहित्यिकता और रोचकता से उनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। पाश्चात्य समीक्षकों ने तो निबन्ध और लेख में अत्यधिक विभिन्नता मानी है तथा लेख को तो 'आर्टीकल' का पर्यायवाची माना है। लेखकी परिभाषा आंग्ल-आलोचकोंने इस प्रकार दी है—"A literary composition forming an independent portion of a magazine, newspaper, or cyclopedia." आचार्य शुक्लजी ने भी विचारात्मक निबंधों को ही निबंध का सच्चा रूप माना है तथा अंग्रेज समालोचकोंकी भाँति उनमें निबंधकार के व्यक्तित्व-चित्रण को भी आवश्यक माना है। इस प्रकार उच्च कोटि के विचारात्मक निबन्ध ही निबन्ध कहे जानेके योग्य हैं।

डा० श्रीकृष्णलाल ने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' नामक पुस्तक में उचित ही लिखा है—'साहित्य रूप की दृष्टि से निबंध सबसे अधिक आधुनिक रूप है और उसका प्रारम्भ और प्रचार मासिक तथा साप्ताहिक पत्रों द्वारा हुआ।" हमारी प्राचीन धार्मिक पुस्तकों, सूत्रों, भाष्यों और टीकाओं को वस्तुतः निबन्ध के अंतर्गत नहीं माना जा सकता। अतएव नाटकों की भाँति निबंधों

का आविर्भाव भी भारतेंदु-युगमें ही हुआ और हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका, ब्राह्मण, सारसुधा-निधि आदि पत्र-पत्रिकाओं द्वारा ही उनका प्रचार हुआ। पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० बदरी नारायण चौधरी, पं० प्रतापनारायण मिश्र, श्री बालमुकुन्द गुप्त आदि निबंध-साहित्य के प्रथम-उत्थान-काल के लेखक थे। निबन्धों के विकास का श्रेय विशेष रूप से आचार्य महाबीरप्रसाद द्विवेदी तथा उनकी मासिक-पत्रिका 'सरस्वती' को दिया जाता है। भारतेंदु-युग का निबन्ध-साहित्य अपनी शैशवावस्था में ही था तथा तत्कालीन राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों से ही प्रभावित था। निर्वैयक्तिकताका उसमें अभाव था और स्वच्छंदता तथा वैयक्तिकता की कभी इतनी अधिक अधिकता हो जाती थी कि वह दोषपूर्ण भी जान पड़ता था। द्विवेदी-युग में भाषा का परिमार्जन तो हुआ ही, साथ ही निबन्धों के विषय-विस्तार के साथ-साथ उनके साहित्यिक-रूप और शैलीमें भी विकास हुआ। द्विवेदीजी के प्रोत्साहन से बहुत से नूतन निबन्धकार प्रकाश मे आये। आचार्य द्विवेदीके साथ-साथ पंडित गोविन्दनारायण मिश्र, पं० माधवप्रसाद मिश्र, पं० चन्द्रशेखर शर्मा 'गुलेरी,' बाबू ब्रजनंदन सहाय, पं० पद्मसिंह शर्मा तथा अध्यापक पूर्णसिंहने निबंध-साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया। यद्यपि डॉ० श्यामसुन्दरदास तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने द्विवेदी-युगमें ही लिखना प्रारम्भ कर दिया था किन्तु उनकी प्रतिभाओं के विकास में द्विवेदीजी का विशेष योग न था। वस्तुतः शुक्लजी के निबन्ध-क्षेत्रमें पदार्पण करने से निबन्ध-साहित्य को नवजीवन-सा प्राप्त हुआ क्योंकि उन्होंने ही प्रथम बार विचारात्मक-निबन्धों की रचनाकर निबंधकारों में विश्लेषण करने और गहराई में जाने की प्रवृत्ति उत्पन्न की। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने शुक्लजी के निबन्धों के प्रति उचित ही लिखा है—"उनके निबंध केवल हिन्दी भाषा की ही अमूल्य निधि नहीं है, प्रत्युत वे समूचे भारतीय साहित्य

में महत्वपूर्ण स्थान पाने के योग्य हैं।" शुक्ल जी के अतिरिक्त और भी कई नवीन लेखकों ने हिन्दी के निबन्ध साहित्य को समृद्ध करने में अपना मूल्यवान योग दिया है तथा इस प्रकार हमारा निबन्ध-साहित्य दिन-प्रति-दिन उन्नति के शिखर पर चढ़ता चला जा रहा है।

आचार्य श्री विनयमोहन शर्मा ने यद्यपि लघुउपन्यास, कहानियों तथा कविताओं का भी सृजन किया है किन्तु वे आधुनिक हिन्दी-साहित्य के उत्कृष्ट निबन्धकार और समालोचक के रूप में ही विशेष प्रसिद्ध हैं। जैसा कि अभी-अभी हम लिख चुके हैं हिन्दी निबन्ध-साहित्य के तृतीय उत्थानकाल में शुक्ल जी के आविर्भाव से निबन्धों का सृजन विशेष रूप से होने लगा तथा कई नवीन प्रतिभायें भी इस क्षेत्र में प्रविष्ट हुईं। इन नवीन प्रतिभाओं में श्री विनयमोहन शर्मा का भी महत्वपूर्ण स्थान है तथा उनके समीक्षात्मक-निबन्ध सन १९२७-२८ से ही 'माधुरी', 'सुधा' और 'आज' आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगे थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि शर्मा जी के निबन्धों का रचना काल आज से २५-२६ वर्ष पुराना है अर्थात् उस समय जब कि निबन्ध-साहित्य अपनी यौवनावस्था में ही था, उनके निबन्ध प्रकाश में आ चुके थे। यह अवश्य है कि शर्मा जी के निबन्धों के संग्रह 'दृष्टिकोण' और 'साहित्यावलोकन' के नाम से सन १९५१ तथा सन १९५२ में प्रकाश में आये, किन्तु अभी भी इन दोनों संग्रहों में बहुत से ऐसे निबन्ध संग्रहीत नहीं हो पाये हैं जो कि कई वर्ष पूर्व माधुरी, कर्मवीर और स्वराज्य आदि में प्रकाशित हुए थे। दृष्टिकोण और साहित्यावलोकन के निबन्ध समीक्षात्मक ही हैं किन्तु शर्माजी ने सामाजिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक विषयों पर भी अपने विचार व्यक्त किये हैं। दृष्टिकोण का तो 'राष्ट्रगीत' नामक निबन्ध वस्तुतः ऐतिहासिक ही है। 'दीर्घायु

जीवन और उसके उपाय' नामक पुस्तक भी एक प्रकार से स्वास्थ्य सम्बन्धी निबन्धों का संग्रह ही है। इस प्रकार शर्मा जी के केवल साहित्य विषयक लेख ही साहित्यिक नहीं हैं बल्कि साहित्यिक ढंग से लिखने के कारण अन्य उनके विभिन्न विषयों पर लिखे गये निबन्ध भी साहित्यिक ही कहे जायेंगे।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य के निबन्धकारों की रुचि सामाजिक, राजनैतिक और वैज्ञानिक विषयों की अपेक्षा आलोचनात्मक निबन्धों की ही ओर अधिक रही है तथा इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस दिशा में उन्होंने प्रगति भी की है। श्री विनयमोहन शर्मा भी आधुनिक हिन्दी-साहित्य के एक प्रसिद्ध समीक्षक हैं—अतः उनके निबन्ध भी अन्य अधिकांश लेखकों की भाँति समालोचनात्मक ही हैं। 'दृष्टिकोण' और 'साहित्यावलोकन' के निबन्धों को इस प्रकार हम समीक्षात्मक निबन्धों की ही श्रेणी में रखेंगे। इन समीक्षात्मक-निबन्धों के भी स्पष्टतः दो भेद लक्षित होते हैं। एक विभाग में तो वे निबन्ध आयेंगे जो कि सैद्धान्तिक-समीक्षा पर लिखे गये हैं। 'दृष्टिकोण' के साहित्य की पृष्ठभूमि, रस-निष्पत्ति, द्वंद्वात्मक-भौतिकवाद, अभिव्यंजनावाद, आनन्दवर्धन, और कविता की श्रेणियाँ तथा 'साहित्यावलोकन' के आधुनिक हिन्दी कविता के वाद, प्रयोगवादी कविता, तथा कलाकार और सौन्दर्य-बोध नामक निबन्ध सैद्धांतिक-समीक्षा के ही अन्तर्गत आते हैं। दूसरे विभाग में वे निबन्ध आयेंगे जिन्हें कि व्यवहारिक-समीक्षा सम्बन्धी निबन्ध कहा जायेगा। वस्तुतः शर्मा जी के दोनों निबन्ध संग्रहों में इसी प्रकार के निबन्धों की संख्या अधिक है। इन दो श्रेणियों के अतिरिक्त शर्मा जी के इन निबन्ध-संग्रहों में बहुत से निबन्ध ऐसे भी दृष्टिगोचर होते हैं, जिनमें कि सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक समीक्षा का समन्वय सा हो गया है। 'दृष्टिकोण' के समस्या मूलक नाटक और सिन्दूर की होली, गीतिकाव्य और

गुप्त की समालोचना और हिन्दी में उसका विकास प्रबन्धकाव्य औ कृष्णायन तथा 'साहित्यावलोकन' के छायावादी कवियों का आलोचनात्मक दृष्टिकोण तथा मराठा नाट्यकला और उसकी रंगभूमि नामक निबन्ध इसी प्रकार के हैं। इस प्रकार के निबन्धों में सामान्य सिद्धान्तों का निर्धारण तो किया ही गया है किन्तु व्याख्यात्मक या व्यवहारिक समीक्षा-पद्धति द्वारा वस्तु विशेष का विश्लेषण भी किया गया है।

शर्माजी के सैद्धान्तिक समीक्षा-सम्बन्धी निबन्धों में साहित्य के विभिन्न अंग - उपांगों - काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, समालोचना आदि के रूपों की विवेचनाकर उनके लक्षण भी निश्चित किये गये हैं तथा सामान्य सिद्धान्तों को भी निर्धारित किया गया है। कहीं-कहीं शर्मा जी ने अभारतीय सिद्धान्तों का खण्डन भी किया है और उनकी उपादेयता-अनुपादेयता पर भी प्रकाश डाला है। डा० सिगमण्ड फ्रायड के कला सम्बन्धी मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्तों से आप असहमत ही हैं तथा साहित्य में उनकी महत्ता को भी अस्वीकार करते हैं। साहित्य की आत्मा काव्य है, तथा काव्य की आत्मा रस है, अतएव 'रस-निष्पत्ति' नामक निबन्ध में रसात्मक बोध के विविध रूपों की चर्चा की गयी है। शर्मा जी ने हीगल के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की अनुपादेयता पर प्रकाश डाला है तथा मार्क्सवादियों के साहित्य-कला-सम्बन्धी विचारों की समीक्षा भी की है। मार्क्सवाद से प्रभावित होकर किस प्रकार हिन्दी-साहित्यकारों ने वस्तुवाद का नाम लेकर जड़वाद का प्रचार किया इस पर भी आपने प्रकाश डाला है। एक स्थल पर उन्होंने लिखा है—"उपदेशक का बाना धारण किये हुए कलाकार समाज की गलत प्रथाओं को फेंकने के लिए सक्रिय आन्दोलन कर सकते हैं तुकबंदियाँ आदि रच सकते हैं; पर यथार्थवाद के नाम पर नारी के जम्पर और साड़ी उतरवा कर उसके

गुह्य अङ्गों को देखना जैसे श्री जैनेन्द्र ने 'सुनीता' में और श्री यशपाल ने "दादा कामरेड" में किया है—नारी जाति को अपमानित करना है। यह उसका उद्धार नहीं है, विकृत मन का वाणी विलास है।" (दृष्टिकोण पृष्ठ ४५) क्रोशे के अभिव्यंजनावाद की व्याख्या करते हुए उसके सिद्धान्तों का भी मूल्यांकन किया गया है। अभिव्यंजनावादियों का हृदय की गम्भीर वृत्तियों की उपेक्षाकर केवल वाग्वैचित्र्य को ही लेकर चलना शर्मा जी के विचार में केवल कौतूहलप्रद ही है। कविता की प्रचलित विभिन्न परिभाषाओं को भूलकर एक स्थल पर उन्होंने लिखा है—'कविता की अनेक परिभाषायें पढ़ लेने पर भी हम उसको पूर्ण रूप से व्यक्त नहीं कर पाते। कविता युग-युग की ऐसी वस्तु है, जिसके सम्बन्ध में विद्यापति का यह कथन सार्थक होता है—'जनम अवधि हम रूप निहारल नयन न तिरपित भेल' और वह रूप कैसा है, नहीं कहा जा सकता। हम इतना ही कह सकते है कि उसमें सौन्दर्य होता है, पद का, अर्थ का, अभिव्यक्ति का, जो हमें आनन्दित करता है।" (दृष्टिकोण पृष्ठ ४१) कविता की भाव या रस सहित और भाव या रस रहित नामक केवल दो श्रेणियाँ ही वे मानते हैं, अन्य कोई तीसरी श्रेणी मानने को वे प्रस्तुत नहीं हैं। हिन्दी के छायावादी कवियों के विभिन्न आलोचनात्मक दृष्टिकोणों पर प्रकाश डालते हुये उनका मूल्यांकन भी किया गया है। 'कलाकार और सौन्दर्यबोध' नामक निबन्ध में सौंदर्य क्या है उसका बोध कैसे होता है तथा कवि या कलाकार पर उसकी प्रतिक्रिया किस प्रकार होती है आदि प्रश्नों पर ही विचार किया गया है। शर्मा जी सौंदर्य को आत्मगत ही मानते हैं तथा उनका विचार है कि "कवि जब तक किसी सत्य का पूर्ण चित्र अपने मानसपर अंकित नहीं कर लेता, वह उसका बाह्य-रूप उपस्थित नहीं कर सकता।" (साहित्यावलोकन पृष्ठ १२५) इब्सनवादी

नाटकों की सैद्धांतिक-सीमाक्षा वास्तव में शर्मा जी ने ही हिन्दी-साहित्य में प्रथम बार की है तथा समस्यामूलक नाटकों की विशेषताओं पर प्रकाश डालने में उन्हें अप्रतिम सफलता भी प्राप्त हुई है। आधुनिक हिन्दी-काव्य में गीतिकाव्य (Lyric) को विशेष महत्व दिया जाता है तथा गीतिकाव्य को पूर्णरूपेण समृद्धि भी आधुनिक हिन्दी कवियों द्वारा ही प्राप्त हुई है। अतः गीतिकाव्य का शास्त्रीय मूल्यांकन भी आवश्यक था। शर्मा जी ने संक्षेप में ही गीतिकाव्य और उसकी परम्परा पर प्रकाश डाला है। प्रबन्ध काव्य के स्वरूप, उद्भव और विकास का भी आवश्यकतानुसार वर्णन किया गया है। हिन्दी-साहित्य समीक्षा के विविध मानदण्डों की चर्चा करते समय पाश्चात्य समीक्षा शैलियों पर भी प्रकाश डाला गया है। शर्मा जी को पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्तों का भी व्यापक अध्ययन है। शर्मा जी साहित्य में वाद और प्रयोगों को आवश्यक नहीं समझते तथा साहित्य की कसौटी उसमें प्रतिबिम्बित होने वाली ईमानदारी को मानते हैं। 'साहित्यावलोकन' के 'दृष्टिक्षेप' में उन्होंने लिखा भी है—........ 'साहित्य के अवलोकन में अपनी दृष्टि को वादग्रस्त होने से बचाया है।" (पृष्ठ ४) आधुनिक हिन्दी कविता के वादों का सैद्धान्तिक मूल्यांकन करते हुए वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि — "जिस कविता में जीवन का शाश्वत सत्य अभिव्यक्त होता है, वह चाहे जिस 'वाद' के अन्तर्गत परिगणित हो, सब युग की कृति होती है और साहित्य को गौरवान्वित करती है।" (साहित्यावलोकन पृष्ठ १५) प्रयोगवादी कविता का शास्त्रीय तथा व्यवहारिक दृष्टि से समीक्षा करने में शर्मा जी को विशेष सफलता प्राप्त हुई है तथा उनके विचार आदर की दृष्टि से देखे भी जाते हैं। शर्माजी नूतन प्रयोगों के विरोधी नहीं हैं, किन्तु प्रयोग के लिए प्रयोग करना उनकी दृष्टि में कविता के साथ खिलवाड़-सा करना है। मराठी नाट्यकला के

सैद्धान्तिक और व्यवहारिक दोनों पक्षों का चित्रण शर्मा जी की लेखनी द्वारा सफलता के साथ हुआ है। इन सैद्धान्तिक निबन्धों की सबसे अधिक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि उनमें शर्मा जी का व्यापक अध्ययन दृष्टिगोचर होता है। इनमें सिद्धान्तों का निर्धारण तो किया ही गया है तथा साहित्य का मापदण्ड प्रस्तुत करने की भी चेष्टा की गयी है।

प्रसिद्ध समीक्षक मौल्टन ने व्याख्यात्मक आलोचना जिसे कि व्यवहारिक आलोचना भी कहा जाता है को ही प्रधानता दी है तथा डा० श्यामसुन्दर दास का भी यही मत है कि—"वास्तव में व्याख्या या विश्लेषण ही ऐसी प्रधान वस्तु है जिसपर चारों प्रकार की समालोचना अवलम्बित है।" वस्तुतः व्याख्या द्वारा न केवल हम सामान्य सिद्धान्तों तक पहुँचते हैं और किसी भी विषय के आभ्यन्तरिक स्वरूप से अवगत हो सकते हैं। बल्कि उसका महत्व भी आँक सकते हैं। व्याख्यात्मक समीक्षा पद्धति को व्यापक, समीचीन और श्रेष्ठतम माना जाता है तथा उसे न्यायपूर्ण और बुद्धि-संगत भी कहा जाता है। शर्माजी के 'दृष्टि-कोण' और 'साहित्यावलोकन' के अधिकांश निबन्ध व्याख्यात्मक समीक्षा सम्बन्धी निबन्ध ही हैं। शर्मा जी ने जिन निबन्धों में किसी भी कृति या विषय का अध्ययन एक न्यायधीश अथवा वकील की भांति न कर एक अन्वेषक के रूप में किया है और इस प्रकार के आलोच्य-कृतियों या विषयों की अन्तरात्मा में प्रविष्ठ होकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों से परिचित हो सके हैं। इस प्रकार वे न केवल रचनाओं बल्कि रचयिताओं की शैलियों, दृष्टिकोणों और विचारों से अपनी बुद्धि का सांमजस्य स्थापित कर उदारतापूर्वक कृतियों याविषयों की व्याख्या कर उनके प्रति सामान्य धारणायें निर्मित कर सके हैं। शर्मा जी ने व्यक्तिगत अभिरुचि का परित्याग कर एक वैज्ञानिक अन्वेषक की भाँति

आलोच्य कृतियों या विषयों के भिन्न-भिन्न भागों की समीक्षा न कर प्रायः उनके समष्टि रूप की ही समालोचना की है

शर्मा जी ने साहित्य के अन्य अंगों की अपेक्षा कविता के विश्लेषण की ही ओर अधिक रुचि प्रदर्शित की है। 'दृष्टिकोण' और 'साहित्यावलोकन' के कुछ निबन्ध 'प्रसाद' तथा उनकी कृतियों की समीक्षा सम्बन्धी है। 'प्रसाद' के 'आंसू' का आलम्बन ! नामक निबन्ध विशेष अध्ययनपूर्ण है तथा उसमें लेखक की गवेषणात्मक प्रवृत्ति भी स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। 'कामायनी' और 'लहर' का भी इसी प्रकार मूल्याँकन किया गया है। दृष्टिकोण में 'कृष्णायन' के समष्टि रूप की आलोचना की गयी है तथा कृष्णायन की काव्यगत विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है किन्तु 'साहित्यावलोकन' में तो अवधी के स्वरूप और विकास पर विचार व्यक्त करते हुए 'कृष्णायन' के केवल भाषा सौन्दर्य पर ही प्रकाश डाला गया है। एक स्थल पर शर्मा जी ने लिखा है—'कृष्णायन की भाषा आधुनिक प्रवृत्तियों के अनुरूप है, सस्कृत-तत्सम-बहुला है। यत्र-तत्र तद्भव शब्दों का माधुर्य उसमें पाया जाता है। वर्तमान भावों को व्यंजित करने वाली नूतन पद योजना है जो भावों के साथ ललित और परुष होती गयी है।" (साहित्यावलोकन पृष्ठ ६४) 'साहित्यावलोकन' में श्रीमती महादेवी वर्मा की कविता पर भी विस्तार के साथ विचार व्यक्त किये गये हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के सदृश्य श्री विनयमोहन शर्मा भी महादेवी को मीरा की परम्परा में नहीं मानते तथा उनका विचार है कि 'मीरा की भक्ति साधनामूलक थी, महादेवी की काव्य-साधना कलामूलक है। उनका तथाकथित 'सूक्ष्मप्रिय' क्या मीरा के जोगी का 'पर्याय' हो सकता है ?" (साहित्यावलोकन पृष्ठ ८६) 'दृष्टिकोण' में शर्मा जी ने गुप्तजी के गीतिकाव्य, निराला की गीति का, सुभद्राकुमारी की कविताओं,

पं० उदयशंकर भट्ट की मानसी, विद्यापति की पदावली, रत्नाकर के उद्धव-शतक तथा पन्त की कविता पर भी अपने सारगर्भित विचार व्यक्त किये हैं। गुप्त जी के गीतिकाव्य के प्रति उन्होंने उचित ही लिखा है —'गुप्त जी के गीतों में वेदना की गहरी अनुभूति और कोमल शब्द योजना पायी जाती है तथा छायावाद युग की विभिन्न प्रवृत्तियों के दर्शन भी उनमें होते हैं। (दृष्टिकोण पृष्ठ ७७) श्री उदयशंकर भट्ट की मानसी के प्रति उन्होंने लिखा है 'मानसी में विश्व का यथार्थ दर्शन है। प्रकृति के रूप-दृश्यों के दृष्टिकोण का संकेत है। उसमें मानवी सुख-दुख का उद्गम, उसकी स्थिति और उसके व्यापार की अनुभूतिमय विवेचना है।" (दृष्टिकोण पृष्ठ १०२) 'पन्त की बहिर्मुखी साधना' नामक निबन्ध में पन्त जी की कविताओं के विभिन्न प्रेरणा स्रोतों पर सम्यक् प्रकाश डाला गया है। वे लिखते हैं—"हम कवि की वीणा में अरूप सत्ता का, ग्रंथि में रूप जगत् का—विशेषतः नारी रूप का—पल्लव में प्रकृति का, युगवाणी और ग्राम्या में समाज (वाद) का, स्वर्णकिरण व स्वर्णधूलि में अवचेतन मन का तथा उत्तरा में अवचेतन मन के आत्मोन्मुख विकास-स्वर सुनते हैं।" (दृष्टिकोण पृष्ठ १८६) 'विद्यापति की पदावली' तथा 'रत्नाकर का उद्धवशतक' विशेष रूप से परीक्षोपयोगी ही जान पड़ते हैं" तथा उनमें विचारों की गहनता उतनी अधिक नहीं है। 'दृष्टिकोण' का 'काव्य में गर्भिणी नारी' एक उत्कृष्ट निबन्ध है, जिसमें लेखक ने सर्वथा नूतन विषय पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। शर्मा जी के इस कथन से प्रत्येक निष्पक्ष व्यक्ति को सहमत होना पड़ेगा कि 'रीतिकालीन शृङ्गारी और आज के यथार्थवादी कवि प्राचीन संस्कृत कवियों के सामने नाक रगड़ते हैं। काव्य में मिलन-विरह के बहुरंगी चित्रों की भी कमी नहीं है पर एक बात जो समझ में नहीं आ रही है, वह यह है कि कवियों ने नारी के गर्भकालीन

सौंदर्य की अधिक वर्णना क्यों नहीं की !" (दृष्टिकोण पृ० ५६) कविता के साथ-साथ गद्य, कहानी, नाटक, उपन्यास, निबन्ध, गद्यगीत और समालोचना पर भी शर्मा जी ने अपने अध्ययनपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्यकी प्रवृत्तियाँ यद्यपि एक लघु निबन्ध ही है, परन्तु उसमें आधुनिक हिन्दी साहित्य की मूल प्रवृत्तियों पर अत्यन्त कुशलता के साथ प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार छायावाद-युग के उपरान्त हिन्दी साहित्य में जो नये नये मोड़ आये उनके प्रति भी शर्मा जी जागरूक रहे हैं। कहानी कला तथा हिन्दी नाटकों के विकास पर प्रकाश डालने के साथ-साथ श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र की सिन्दूर की होली तथा पं० उदयशंकर भट्ट के भाव-नाट्यों की भी स्वतन्त्र रूप से तर्क-संगत विवेचना की गयी है। शर्मा जी ने समस्यामूलक नाटकों के उद्भव तथा विकास पर अपने अध्ययनपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं और वे 'सिन्दूर की होली' को तथाकथित समस्यामूलक नाटकों की श्रेणी में रखने से सहमत नहीं है। उन्होंने लिखा भी है—"पाश्चात्य समस्यामूलक नाटकों में जहाँ आदर्श के प्रति सर्वथा उपेक्षा प्रदर्शित की जाती है; वहाँ प्रस्तुत नाटक में उसी की मर्यादा को चरम लक्ष्य पर आसीन करने का प्रयास किया गया है। यथार्थ की भूमि पर आदर्श के गगनचुम्बी प्रसाद को खड़ाकर भारतीय समस्या-नाटकों के एक नये रूप को प्रस्तुत किया गया है, जिसमें रोमांस अधिक है, यथार्थ कम है। जीवन की जागृति की अपेक्षा जीवन का स्वप्न ही अधिक उन्मादकारी है।" (दृष्टि-कोण प्रृष्ठ ७२) सुश्री, दिनेशनन्दिनी के 'वंशीरव' तथा श्री माखनलाल चतुर्वेदी की 'साहित्य देवता' नामक प्रसिद्ध कृतियों की विवेचना भी लेखक ने की है। शर्मा जी का 'साहित्य देवता' के प्रति यह कथन उचित ही है—"साहित्य देवता के उद्गारों में, चाहे वे गद्यकाव्य के रूप में हों चाहे गद्यगीत के रूप में हों अथवा

काव्यमय गद्य का ही बाना पहिने हुए हों, एक चीज स्पष्ट है और वह है व्यंग (Satire); काव्यशास्त्र विनोदेन कालोगच्छति धीमताम्" की दृष्टि इनमें नहीं है।" (दृष्टिकोण पृष्ठ १४७) "साहित्यावलोकन" में प्रसाद के 'कंकाल' तथा 'दृष्टिकोण' में निराला की 'अप्सरा' और पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी की 'पतिता की साधना' नामक उल्लेखनीय उपन्यास कृतियों पर भी विचार व्यक्त किए गये हैं। भारतेन्दु की गद्य-भाषा में भारतेन्दु की गद्य-शैली की विवेचना की गयी है। 'साहित्यावलोकन' में द्विवेदी जी की हिन्दी साहित्य की देन, शुक्ल जी का निबन्ध कृतित्व और बख्शी जी की समीक्षा-पद्धति पर भी प्रकाश डाला गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि 'साहित्यावलोकन' के अन्तिम तीन निबन्ध शर्मा जी की हिन्दी साहित्य को उल्लेखनीय देन है, क्योंकि उनमें प्रथमबार निष्पक्ष रूप से मराठी भाषियों की हिन्दी-सेवा और साहित्यानुराग पर प्रकाश डाला गया है। इन तीन निबन्धों से स्पष्ट विदित होता है कि हिन्दी-साहित्य के साथ-साथ शर्मा जी को मराठी भाषा और साहित्य का भी व्यापक अध्ययन है। शर्मा जी ने मराठी नाट्यकला और रंगभूमि नामक निबन्ध द्वारा इस ओर ध्यान आकर्षित किया है कि "प्रारम्भिक मराठी नाटकों में हिन्दी सवादों की अत्यधिक प्रचुरता देखकर हिन्दी के व्यापक प्रभाव का परिचय होता है।" (साहित्यावलोकन पृष्ठ ४)।

शर्मा जी के निबन्ध-साहित्य पर इस प्रकार विहंगम दृष्टि डालने के पश्चात् उनकी भाषा-शैली पर भी विचार करना परमावश्यक है। शर्मा जी की शैली विवेचनात्मक ही है, जिसमें समासप्रणाली के अनुरूप विषय या कृति की हृदयस्पर्शी व्याख्या के साथ-साथ भावों तथा विचारों की सुसम्बद्ध व्यवस्था भी है; किन्तु कहीं भी अस्पष्टता या दुरूहता का आभास नहीं होता।

कहीं-कहीं लेखक ने अपनी अनुभवशीलता, रचनाकौशल तथा बुद्धि-चातुर्य के फलस्वरूप कुछ अर्थगर्भ-सूत्रों का भी सृजन किया है। जैसे 'कथा मानवजीवन का उत्स है और कुतूहल भी'' तथा ''साहित्य के यथार्थ दर्शन का नाम समालोचन है'' आदि। श्री रामचन्द्र शुक्ल की सी विश्लेषणात्मकता, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का-सी व्याख्यानात्मकता और श्री पद्मसिंह शर्मा की-सी व्यंग्यात्मकता की अपूर्व त्रिवेणी-सी शर्मा जी की गद्य-शैली में देख पड़ती है। उनके निबन्धों में कहीं भी शुष्कता और नीरसता दृष्टिगोचर नहीं होती, बल्कि भावुकता और सरसता के साथ-साथ हास्य-व्यंग्य की मीठी चुटकियों की भी अधिकता-सी है। भाषा में अभिव्यंजनाशक्ति की प्रबलता, भव्यता तथा विशालता भी है। विचारों को संगठित रखने के उद्देश्य से लेखक ने अपनी भाषा में इस प्रकार का गठन-सा रखा है कि प्रत्येक वाक्य अपना निजी महत्व रखता है तथा वह अपने स्थान से किसी भी भाँति विलग नहीं किया जा सकता। उनकी गद्यशैली में मूर्तिमत्ता की निहृति की प्रवृत्ति भी सर्वत्र लक्षित होती है तथा कहीं-कहीं काव्यात्मकता भी झलक उठती है। एक उदाहरण देखिए —''हमारे साहित्य का वर्तमान कवि भी कहा जाता है, त्रयोदशी की रजनी में अशोक का किसी मदिराक्षी के चरण स्पर्श से पुष्पित कर मदनोत्सव नहीं मानता और न वह अपने ही आंसुओं में रह-रह कर जलना या गलना चाहता है। अनन्त का स्पर्श भी वह भूल गया है उसे अब मिल के भोंपू खूब सुन पड़ते हैं। कहारिन की बिमाई भरी एड़ी और हथेलियों में कविता दिखलायी देने लगी है। यह प्रवृत्ति साहित्य के सभी अंगों पर छा गयी है।'' (दृष्टिकोण पृष्ठ २०) वास्तव में शर्मा जी की गद्यशैली सराहनीय है तथा उनकी भाषा भी अत्यन्त समृद्ध है

जिसके द्वारा उन्होंने अपने अभीष्ट भावों और विचारों की अभि-व्यक्ति की है।

इस प्रकार श्री विनयमोहन शर्मा के निबन्ध हिन्दी साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं तथा 'दृष्टिकोण' और 'साहित्या-वलोकन' हिन्दी साहित्य की समादरणीय कृतियां हैं। शर्मा जी के निबन्धों में बुद्धि और हृदय दोनों का समन्वय है तथा विचारों की गम्भीरता होते हुए भी भावात्मकता की भी बड़ी अच्छी नियोजना हुई है। 'दृष्टिकोण' और साहित्यावलोकन' का महत्व इस दृष्टि से भी है कि उनमें लेखक के स्वयं के अध्ययन, मनन और चिन्तन से प्रसूत विचारों और सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति हुई है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की यह उक्ति कि— 'ऐसे प्रकृत निबन्ध जिनमें विचार-प्रवाह के बीच लेखक के व्यक्तिगत वाग्-वैचित्र्य तथा उसके हृदय के भावों की अच्छी झलक हो हिन्दी में अभी कम देखने में आ रहे हैं" कम से कम श्री विनयमोहन शर्मा के निबन्ध के प्रति तो निस्सन्देह ही अपवाद-स्वरूप मानी जा सकती है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के वास्तव में वे एक उत्कृष्ट निबन्धकार हैं।

---

१५. चरित्र-निर्माण में साहित्य की उपयोगिता

एक प्रसिद्ध विद्वान का कथन है 'जीवन की सबसे मौलिक वस्तु चरित्र है।' वास्तव में चरित्र को ही जीवन का बल समझना चाहिए क्योंकि जीवन रूपी सरसिज की पंखुड़ियाँ उत्तम चरित्र की समुज्ज्वल रश्मियों द्वारा ही विकसित होती हैं। अँग्रेजी में एक कहावत भी है कि यदि वित्त का नाश हो जाय तो कुछ भी नष्ट नहीं हुआ, समय की हानि हुई तो कुछ भी हानि नहीं हुई परन्तु यदि चरित्र दूषित हो गया तो मनुष्य का सब खो गया। चरित्र के विकास को ही वस्तुतः हम जीवन का विकास कह सकते हैं, पतन को तो मृत्यु ही समझना चाहिए। मनुष्य का सुख और दुःख उसके चरित्र पर ही निर्भर है क्योंकि चरित्रवान् व्यक्ति अपने वातावरण को सुख पूर्ण और संतोषजनक बनाकर सब प्रकार से और सभी क्षेत्रों में उन्नति प्राप्त कर सकता है परन्तु चरित्रहीन व्यक्ति न तो सत्संग ही प्राप्त कर सकता है और न कभी उन्नति ही कर सकता है। चरित्रवान् व्यक्ति दृढ़ इच्छा शक्ति, अनवरत परिश्रम और कष्ट सहिष्णुता के बल पर जीवन में सर्वदा ही सफलता प्राप्त करता है परन्तु चरित्रहीन व्यक्ति तो स्वयं अपने आपका शत्रु होता है। टी० रेमंट ने इसीलिए अपनी 'शिक्षा सिद्धान्त' नामक प्रसिद्ध पुस्तक में चरित्र निर्माण को ही शिक्षा का प्रधान उद्देश्य मानते हुए लिखा है—"शिक्षक का सर्व

प्रधान कर्त्तव्य न तो बालक को पहलवान बनाना है, न उसे पांडित्य का पुतला बनाना है, और न परिमार्जित भावुक ही! उसका वास्तविक कर्तव्य तो बालक के चरित्र को दृढ़ और पवित्र बनाना है।"

एक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ने जहाँ प्रवृत्तियों के समुच्चय को ही चरित्र माना है वहाँ प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक कान्ट मनुष्य को आत्मनिर्मित प्राणी मानते हैं। मानव जीवन की प्रवृत्तियाँ तो वास्तव में इच्छा पर ही अवलम्बित रहती है और इस प्रकार सुन्दर तथा असुन्दर नामक दो भेद उनके भी किये जा सकते हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्राइड ने भी मानव जीवन को आदिम प्रवृत्तियों और सामाजिक आवश्यकताओं के अन्तर्द्वंद्व द्वारा ही संगठित तथा शासित होना स्वीकार किया है किन्तु केवल प्रवृत्तियों द्वारा ही चरित्र का निर्माण सन्देहास्पद ही जान पड़ता है। बालकों में जब तक ज्ञान का विकास नहीं हो पाता तब तक उनकी इच्छाशक्ति भी तो जागरूक नहीं हो पाती। विवेकवान् होने पर ही बालक में दृढ़ इच्छाशक्ति का प्रादुर्भाव होता है तथा ज्ञान द्वारा ही विवेक का उदय होता है। इस प्रकार किसी व्यक्ति का चरित्र निर्माण करने के लिये मस्तिष्क और हृदय को शिक्षित बनाना परमावश्यक है। इसीलिये चरित्र निर्माण का सबसे महत्वपूर्ण साधन नैतिक उपदेशों को प्रदान करना माना जाता है। हरबार्ट का कथन है कि साहित्य और इतिहास द्वारा नैतिक विचार अत्याधिक परिमाण में प्राप्त किये जा सकते हैं। वस्तुतः इतिहास तो साहित्य का एक प्रधान अंग ही माना जाता है अतएव साहित्य को चरित्र निर्माण का सबसे अधिक महत्वपूर्ण साधन समझना चाहिए।

'सहितस्य भावः साहित्यं' की उक्ति के अनुसार साहित्य का शाब्दिक अर्थ सहित होने का भाव ही समझा जाता है। किन्तु

'साहित्य' शब्द का अर्थ साथ होना न समझ कर 'हितेन् सह सहितं' ही समझना चाहिए। इस प्रकार साहित्य उसे कहा जा सकता जिसमे मनुष्य का हित होना है। श्री गुलाबराय जी के शब्दों में—"साहित्य संसार के प्रति हमारी मानसिक प्रतिक्रिया अर्थात् विचारों भावों और संकल्पों की शाब्दिक अभिव्यक्ति है और वह हमारे किसी न किसी प्रकार के हित का साधन करने के कारण संरक्षणीय हो जाती है।"

हेनरी हडसन ने—"It is fundamentally an expression of life through the medium of language," नामक कथन द्वारा साहित्य को मूलतः भाषा के माध्यम संजीवन की अभिव्यक्ति माना है। इस प्रकार साहित्य का जीवन से अभिन्न सम्बन्ध है। प्रसिद्ध उपन्यासकार प्रेमचन्द ने लिखा भी है—"साहित्य हमारे जीवन का स्वाभाविक और स्वाधीन बनाता है दूसरे शब्दों में उसी की बदौलत मन का संस्कार होता है। यही उसका मुख्य उद्देश्य है।" वस्तुतः साहित्य का उद्देश्य बौद्धिक क्षेत्र से मानसिक क्षेत्र में उस सत्य की स्थापना करना है जिसका उद्देश्य मनुष्य मात्र में कल्याणकारी एकता को स्थापित करके ईश्वर के अनुराग पूर्ण साम्राज्य की स्थापना करना है। टालसटाय ने भी What is art नामक अपनी प्रसिद्ध कृति में कला (साहित्य) को जीवन के सुधार के लिये आवश्यक मानते हुए लिखा है—

"The desitny of art in our time is to transmit from the realm of reason to the realm of feeling the truth that well—being for men consists in their being united together and to set up in place of existing reign

of force, that Kingdom of God which is love, which we all recognise to be the aim of human life."

वास्तव में जीवन के गहन तत्त्वों की जैसी विशद व्याख्या साहित्यकारों की कृतियों में देख पड़ती है वैसी अन्यत्र कहीं नहीं देख पड़ती। आदि कवि वाल्मीकि, महर्षि व्यास और कालिदास ने जितना हमें जीवन के विषय में सिखाया है उतना दार्शनिकों ने भी नहीं सिखाया होगा। साहित्य न केवल हमारा मनोरंजन कर हमारे जीवन में सुरम्यता ला देता है बल्कि साथ ही साथ हमें एक निश्चित आदर्श पर चलना भी सिखा देता है। साहित्य का प्रमुख उद्देश्य एकमात्र उपदेश देना ही नहीं है परन्तु मनुष्य को नैतिक लाभ पहुँचाना भी है।

साहित्य की आत्मा काव्य है और काव्य को भी दृश्य तथा श्रव्य नामक दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। दृश्य काव्य के अन्तर्गत रूपक और नाटकों का उल्लेख किया जा सकता है तथा श्रव्य काव्य के अन्तर्गत पद्य के साथ साथ गद्य के उपन्यास कहानी जीवन और निबंध नामक अंगों का भी समावेश होता है। काव्य-साहित्य के ये सभी विभिन्न अंग-उपांग चरित्र निर्माण में आवश्यकतानुसार सहायता पहुँचाते हैं।

हमारा उपन्यास कहानी साहित्य ही सबसे अधिक समृद्ध हुआ है और चरित्र निर्माण में उससे विशेष सहायता भी मिल सकती है क्योंकि प्रसार तथा प्रचार की दृष्टि से कहानियों तथा उपन्यासों को ही विशेष सफलता प्राप्त हुई है। प्रेमचन्द जी तो उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्रमात्र ही समझते हैं जब कि डा० श्यामसुन्दर दास जी उसे वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा मानते हैं। भारतीय कथा साहित्य भी बहुत प्राचीन है तथा उपनिषदों में ही हमें दृष्टान्त के बहुत से उदाहरण देख पड़ते हैं। श्री रामानुजलाल

श्रीवास्तव के शब्दों में—"उपनिषदों में ब्रह्म से परिव्याप्त जगत् का संलाप रूप से मनोरंजक चित्रण कर, उन विद्वानों ने कथा का बीज रूप उपस्थित किया। इस प्रकार कथा आदिरूप में भावमूलक को वस्तुमूलक, निराकार को साकार और कठिन को सरल करने के लिए अवतीर्ण हुई।"

कहानियाँ शिशु से लेकर वृद्ध तक को चरित्र पालन की शिक्षा सरलता से प्रदान करती हैं। बालक तो विशेष रूप से कथाओं को ही श्रवण करना पसन्द करते हैं। कहानी का उद्देश्य केवल मनोरंजन ही नहीं रहता वरन् मानव जीवन के कुछ तथ्यों तथा मानसिक भावनाओं से परिचित कराना है। कहानियाँ काल्पनिक अवश्य हो सकती हैं परन्तु यह काल्पनिकता केवल आवरण मात्र ही मानी जा सकती है जिसके द्वारा नैतिक शिक्षा प्रदान की जा सकती है। कहानियाँ शिक्षाप्रद अवश्य हों परन्तु हितोपदेश या ईशप की कहानियों की भाँति न हों जिनसे आधुनिक युग की शिक्षाओं का उद्देश्य स्पष्ट रूप से व्यंजित नहीं किया जा सकता। नैतिकता तो कहानियों में अंतर्हित रहती ही है केवल उसे समझने का प्रयास भर करना पड़ता है। 'अज्ञेय' की 'शत्रु' नामक प्रसिद्ध कहानी का अंतिम वाक्य अपने उद्देश्य को स्पष्ट कर देता है और हमें मानव चरित्र की दुर्बलता भी दिखलाता है कि "जीवन की सबसे बड़ी कठिनाई यही है कि हम निरन्तर आसानी की ओर बढ़ते हैं।"

कहानियों की भाँति उपन्यासों में भी नैतिकता अंतर्हित रहनी चाहिए। परन्तु वर्तमान युग में फ्रायड के प्रभाव से तथा मनुष्य जाति की स्वाभाविक रूप लालसा के फलस्वरूप कहानियों और उपन्यासों में मनोविश्लेषण की अधिकता पाई जाती है तथा यथार्थ वाद से प्रभावित हो विवाहित जीवन की व्यर्थता स्त्री पुरुष के यौन सम्बन्धों की स्वच्छन्दता पर ही विशेष बल दिया जाता है।

इस प्रकार चरित्र निर्माण में बाधा पड़ने की आशंका भी स्वाभाविक ही होती है। यथार्थवाद की इसी विडम्बना से खिन्न होकर श्रीमती सरोजनी नायडू ने भी कहा था—"यथार्थवाद ही सब कुछ नहीं है। हमें उससे ऊपर उठना चाहिए।"

चरित्र निर्माण में कविताएँ भी अपना अमूल्य सहयोग दे सकती हैं। मैथ्यू आर्नल्ड ने कविता को जीवन की व्याख्या या आलोचना माना है। कविता हमारी भावनाओं को जाग्रत करती है और हमारे मानसिक विचारों को प्रेरणा भी देती है। प्राचीन आदर्श महापुरुषों महावीरों सम्बन्धी कविताओं से राष्ट्रीय भावनाएँ उत्पन्न होती हैं तथा दृढ़ इच्छाशक्ति भी जाग्रत होती है। मेकडूगल महाशय ने चरित्र को स्थायीभाव का संगठन माना है किन्तु स्थायी भावों का समावेश कविता द्वारा ही कुशलता से हो सकता है।

परन्तु हिंदी साहित्य का काव्यजगत परस्पर दो विरोधी भावनाओं से प्रभावित रहा है और शृंगारिकता की प्रधानता ही उसमें विशेष रूप से रही है। इस प्रकार नैतिकता की भावनाओ का शनैः शनैः अभाव सा होता चला है और वासनामूलक तथा कुरुचि उत्पादक वृत्तों की बहुलता सी दृष्टिगोचर हो रही है। रस को तो काव्य की आत्मा माना ही जाता है और उसमें शृंगार के रसराज के पद पर अधिष्ठित किया जाता है। डाक्टर भगवानदास तो साहित्य का अधिदेवता काम को ही मानते हैं—Eros, Kam in this large sense, is truly the parent of all the gods, and the presiding deity of all Sahitya and literature, which is the only record of his play. शृंगार रस का वर्णन करना यद्यपि अनुचित नहीं माना जा सकता परन्तु

अश्लीलता का प्रचार कर चरित्र निर्माण में बाधा पहुँचाना तो किसी भी प्रकार उचित नहीं माना जा सकता। अश्लील भावों से परिपूर्ण कविता लिखना कविता के मूल पर कुठाराघात करना ही है। इससे सुंदर तो यही है कि कविता लिखी ही न जाय। किसी विद्वान ने लिखा भी है—

असभ्यार्थमिधायित्वा नोपदिष्टव्यं काव्यं।

कविता की भाँति निबन्ध और नाटकों द्वारा भी चरित्र निर्माण में सहायता पहुँचाई जा सकती है। वस्तुतः नाटक की प्रभावोत्पादिनी शक्ति तो साहित्य के अन्य अंग उपांगों की अपेक्षा अधिक मानी जाती है तथा प्राचीन काल में भी दृश्य काव्य का ही विशेष प्रचार था। नाटकों में लोकहित और लोकरंजन की क्षमता विशेष रूप से रहती है तथा सामाजिकता का भी प्राधान्य रहता है। नाटकों द्वारा चरित्र निर्माण की शिक्षा देने का प्रभावबहुत अधिक पड़ता है तथा बालकों के लिए और अपढ़ पुरुषों के हेतु तो नाटक जैसे दृश्य काव्य ही चरित्र निर्माण के प्रमुख साधन माने जा सकते हैं।अधिक आयु का व्यक्ति तो इतिहास का अध्ययन भी कर सकता है और अपने चरित्र को सुचारु बना सकता है। इतिहास की अतीत कालीन घटनाओं की पुनरावृत्ति कर मानसिक भावनाएँ उत्प्रेरित की जा सकती हैं। बहुत से प्रसिद्ध काव्यों की पृष्ठभूमि भी इतिहास पर ही आधारित है तथा इतिहास ही मानव-जीवन को महानता प्रदान करता है।

यद्यपि रूसो ने बालकों को चरित्र निर्माण के हेतु नैतिक शिक्षा प्रदान करना अनुचित माना है तो भी शिक्षा के क्षेत्र में नैतिकता की महत्ता सदैव स्वीकार की जायगी। साथ ही नैतिक विचार भी विद्यार्थियों को विशेषतः उत्तमकोटि के साहित्य द्वारा ही प्राप्त हो सकते है। उत्तम कोटि का साहित्य मनुष्य की अभद्र भावनाओं

को तिरोहित कर देता है या फिर उन्हें सुप्तावस्था में पहुँचाकर अप्रत्यक्ष रूप से उसे एक श्रेष्ठतम चरित्रवान व्यक्ति बना देता है। अतएव हमें चाहिए कि चरित्र निर्माण के हेतु उत्तम कोटि के साहित्यिक ग्रंथों का अध्ययन और मनन करें

समाप्त

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११	१	काव्यो-चित	काव्योचित
१३	पादटिप्पणी	एम. १.	एम. ए.
१५	१३	तिस्कार	तिरस्कार
१६	१३	अपव्य	अपव्यय
१८	२२	हठपोगियों	हठयोगियों
२६	२१	'ग्रथि'	ग्रंथि
३१	१	शताब्द	शताब्दी
३१	७	माध	माघ
३३	७	सहा शती	सप्तशती
३४	२०	मन	भन
३५	१९	उपरर्युक्त	उपर्युक्त
३८	१५	musn	must
३९	२०	समाते	समाने
४१	५	अद्यइल	अछइल
५१	१६	भागीरथ	भगीरथ
६०	१८	एवीत्क्तं	एवोक्तं
६३	१७	अश्लीला	अश्लील
६९	१२	प्रस्फिुटत	प्रस्फुटित
७०	१५	हस्तिह्व	हस्तिह्ल
७१	१०	एक	एव
७१	१२	आक्तं	आवर्त
७१	१३	नु	तु
७१	१४	कारुराय	कारुण्य
७२	५	अर्धाहि	अष्ठाहि
७२	१०	नाव्ये शाम्तो	नाटचे शान्तो
७२	१२	सोडवश्यं	सोऽवश्यं
७२	१३	इत्युचक्राय	इत्युपक्राय
७४	३	तो	तोर
७९	पादटिप्पणी ५	त्यक्तबैणाः	त्यक्तषैणाः
७९	" १०	स्व०	स्कंध
८३	३	हृष्टिपातं	दृष्टिपातं
८३	५	भ्रूविलासा	भ्रविलासा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८४	१५	दाम्प्त्म	दाम्पत्य
८५	२६	herea	here a
८६	६	Challeng	Challenge
८६	२३	ताड़िना	ताड़िता
९३	६	रामचरितमानम	रामचरितमानस
१०५	२२	वाचस्पति	वाचःपति
११७	६	गीति-ग्रंथों	रीति-ग्रंथों
१२३	२४	नागवती का	नागमती को
१३६	१३	मधुर्यंज	माधुर्योज
१३७	२१	बन	बैन
१४८	१५	कविवों	कवियों
१५०	२	न्याय	न्यास
१५२	११	सामन्य	सामान्य
१५५	१३	छोड़न	घोड़न
१५६	१६	मादी	गादी
१५६	२४	जुलुल	जुलुम
१५७	१०	विकदावली	विरुदावली
१५८	१४	कधु	कछु
१६४	६	जायें	जावें
१७२	६	गजरवाल	गजखाल
१७४	१२	दृष्द्वकासन सांस्थिते	दृष्द्वकासनसंस्थिते
१७४	१२	पश्चापेत्यादण	पश्चादुपेत्यावण
१७४	१८	विछोहे	पिछोहे
१७५	६	विमुञ्छ	धिमुञ्च
१७५	२२	पुतिका	पुत्रिका
१७७	पादटिप्पणी-३	कंख	कंज
१८२	६	वनलङ्कती	वनङ्कुकनी
१६४	१५	स्त्रयं	स्त्रमे
१६८	१६	वासिका	नासिका
१६६	८	सुकचि	सुरुचि
२१३	पादटिप्पणी	Writter	writer
२२६	२५	दृष्टिकोण	दृष्टिकोण
२३०	११	संजीवन	से जीवन
२१३	१७	J.W. Marriatt's	J.W. Marriott's